सत्साहित्य प्रकाशन

इतनी परेशानी क्यों

विचार-प्रेरक लघु निबंध

श्रीमन्नारायण

●

●

१६६२
सस्ता साहित्य मंडल-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

पहली बार . १९६२
मूल्य
सजिल्द : अढाई रुपये

मुद्रक
हीरा आर्ट प्रेस
दिल्ली

प्रकाशकीय

हिन्दी मे विस्तृत और गभीर निबध तो बहुत मिलते हैं, लेकिन ऐसे निबधो का बडा अभाव है, जो आकार मे लघु हो, पढने मे सरल-सुबोध हो, पर साथ ही विचार-प्रेरक भी हो। इस प्रकार के निबध लिखना वास्तव मे बडा कठिन है। गागर मे सागर भरने के समान है।

हमे हर्ष है कि प्रस्तुत पुस्तक द्वारा पाठको को इस तरह की सामग्री उपलब्ध हो रही है। इसकी सारी रचनाए छोटी-छोटी है और सब के लिए बोधगम्य है। इनकी सबसे बडी विशेषता यह है कि ये पाठकोको सोचने के लिए विवश करती है।

इन निबधो के लेखक से हिन्दी के पाठक भली प्रकार परिचित हैं। वह गाधीजी के सान्निध्य मे रहे है, गाधीवादी अर्थ-विधान के इने-गिने विचारको मे से है, शिक्षा-शास्त्री है और इनकी लेखनी से गभीर पुस्तको के अतिरिक्त अनेक कविताए, निबध आदि प्रसूत हुए है। 'मण्डल' द्वारा प्रकाशित इनकी 'विनोबा के साथ सात दिन' तथा 'गाधीवादी सयोजन के सिद्धान्त' पुस्तके बहुत लोकप्रिय हुई है।

हमे आशा है यह पुस्तक हिन्दी-जगत मे बडे चाव से पढी जायगी और पाठक इससे लाभ उठावेंगे।

—मंत्री

विषय-सूची

इतनी परेशानी क्यों?

पर्णकुटी

उस दिन जब मै पूना के 'वड गार्डन' मे घूम रहा था, सहसा नदी के उस ओर पहाडी के ऊपर 'पर्णकुटी' की ओर नजर गई। सूरज धीरे-धीरे अपनी पीली चमक के वैभव के साथ ढल रहा था और उसकी तेज रोशनी 'पर्णकुटी' की चमकती दीवारो पर भी पड रही थी। इसी 'कुटी' मे बापूजी के हरिजन उपवास के बाद उनकी सेवा शुश्रूषा की गई थी, और सारे देश की चिंतित आखे इसीकी ओर लग रही थी। उसी कुटी को नजदीक से देखने के लिए न जाने कितने लोग उत्सुक रहते होगे। वह सचमुच राष्ट्र की जागृति के इतिहास मे एक विशेष स्थान रखती है। इसी तरह के कई विचार थोडी-सी देर मे आये। कुटी की छटा देखते-देखते मै बाग की दूसरी ओर से बाहर चला गया।

पर दिल मे एक तरह की परेशानी, कसक, कटुता और खिन्नता महसूस हो रही थी! 'पर्णकुटी'! 'पर्णकुटी' के नाम पर एक जगमगाता महल! अमीरो का यह कैसा ढोग है? वे किस तरह टूटी-फूटी झोपडियो मे रहनेवाली गरीब जनता का मखौल उडाते है! आज की समाज-व्यवस्था की यह कैसी करुणापूर्ण पर व्यग्य से भरी विडम्बना है! गरीबो का हृदयहीन शोषण करके पहाडियो पर विशाल महल खडे करना, बडे ऐश-आराम मे अपनी ज़िन्दगी बिताना, खुद कुछ भी परिश्रम न करते हुए समाज के श्रम-जीवियो का जीवन पशुओं जैसा बना देना, और फिर इन दरिद्र, अकिचन मजदूरो को चिढाने के लिए, उनका परिहास करने के लिए, उन्हे भुलावे मे डालने के लिए और एक इज्जतदार देशभक्त बनने के लिए अपने महल का नाम 'पर्णकुटी' रखना!

'पर्णकुटी' के मालिक का मै अपमान नही करना चाहता। मुझे उनके बारे मे कोई खास जानकारी भी नही है और न कभी इसकी ज़रूरत ही

कुटियो मे ही है। वह उन्ही गरीब जनो की झोपड़ियो मे रहना पसन्द करता है, यद्यपि उसकी तकदीर ने, जिसके ऊपर उसका कोई काबू नही, उसे एक विशाल प्रासाद मे ही रहने के लिए मजबूर किया है।

जनता को खुश रखने के ही ख्याल से ज्यादातर दान दिये जाते है। लोग खुश भी हो जाते है और दानवीरका खिताब भी बडी आसानी से मिल जाता है। पुराने ज़माने के लोग चुपचाप ही दान दिया करते थे। अगर वे दाहिने हाथ से दान देते तो बाये हाथ को भी उसकी खबर लगने की जरूरत नही समझी जाती थी। उनका ख्याल था कि अगर दान का ढिढोरा पीट दिया जाय तो उसका पुण्य मारा जाता है। पर आजकल तो दान देने से भी ज्यादा अहम मुद्दा यह है कि सेठजी का नाम, और हो सके तो फोटो भी अखबारो मे प्रकाशित होना चाहिए और जिस सस्था या कार्य के लिए दान दिया गया हो, उसके साथ उनका नाम भी जुडा रहना चाहिए। इन शर्तों के बावजूद हमे दान लेने मे एतराज करने की जरूरत नही। समाज का कुछ-न-कुछ भला होता ही है। पर अगर धनी यह समझते रहे कि वे जनता को अब दान देते रहने ही से सन्तुष्ट रख सकेगे तो वह गलत ख्याल है। एक तरफ से भरपूर शोषण और दूसरी ओर से थोडी बदे टपका देने से तप्त समाज का बुखार कम नही हो सकता। उसके लिए तो समाज की मौजूदा बनावट को ही जड से बदलना होगा।

टॉल्स्टाय की 'हम क्या करे ?' (व्हाट देन मस्ट वी डू ?) किताब शायद आपकी नजर से गुजरी हो। उसमे इसी मसले को हल करने की कोशिश की गई है। जो अमीर गरीबो के साथ पूरी सहानुभूति रखकर उनको मदद पहुचाना चाहते है, वे क्या करे ? यही प्रश्न टॉल्स्टाय के सामने भी था। उसने शुरू मे गरीबो के गलीज और अधेरे मकानो मे जा-जाकर उनसे परिचय किया और जिन्हे मदद की सचमुच जरूरत थी, उन्हे काफी पैसे भी दिये। पर उसने जल्द ही महसूस किया कि इस तरह की सहायता से वह मसला हल नही हो सकेगा। समाज की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था ही ऐसी है कि गरीब-वर्ग को उन्नत करना करीब-करीब नामुमकिन है। उन्हे ऊपरी सहायता देने से तो उनकी बुरी

श्रान्तों को कुछ उत्तेजन ही मिल जाता है। उनका जीवन ही इतना हीन बन गया है कि समाज में आमूल परिवर्तन के बिना वह सुधर नहीं सकता। हम खुद आराम में रहें और उनको कुछ आर्थिक मदद देकर यह आशा करें कि वे मेहनत-मजदूरी से अपना पेट पालते रहें, यह तो हमारी महज नासमझी ही होगी। उनकी आंखों के सामने दिन-रात जो आदर्श व नमूना हम रखते हैं, वह तो है भोग-विलासका, और फिर उनसे यह उम्मीद रखते हैं कि वे जन्म भर श्रम-जीवी ही बने रहें। हमारी जिन्दगी की मिसाल तो उन्हें निकम्मा, सुस्त और जाहिल ही बना सकती है'। यही अनुभव टाल्स्टाय को मिला और वह इसी नतीजे पर पहुंचे कि अगर अमीर लोग गरीबों की सच्ची मदद करना चाहते हैं और उनके जीवन को ऊंचा उठाना चाहते हैं तो पहले खुद उन्हें समाज का शोषण बन्द करना चाहिए और ईमानदारी से मेहनत करके ही अपनी आजीविका कमानी चाहिए। दूसरे की मजदूरी का फायदा न उठाकर स्वयं शारीरिक श्रम करना चाहिए। पाप का पैसा इकट्ठा कर फिर उसमें से कुछ बांटने से यही अच्छा है कि पाप किया ही न जाय। अगर सभी लोग अपने श्रम की बिना पर मिल-जुलकर अपना निर्वाह करें तो फिर न रहेगा बास और न बजेगी बासुरी।

'पर्णकुटी' में वे नहीं रह सकते, जिनका सारा जीवन एक व्यवस्थित शोषण की बिना पर खड़ा हुआ है, जो अपने विलास में दिन-रात फंसे रहकर गरीबों के बेचैन दिलों की धड़कन की आवाज स्वप्न में भी नहीं सुन सकते, जिन्हें यह भी नहीं मालूम कि शारीरिक श्रम किसे कहते हैं और असली भूख क्या चीज है, जिन्होंने दुनियां के जीवन को सिर्फ किताबों में पढ़ा है, पर कभी अपनी आंखों से देखा नहीं, जिनकी सारी शक्ति धन कमाने में ही खर्च होती है, और जिनका मन जीवन की आखिरी घड़ियों में भी शायद इसी 'स्वर्ग' की ओर लगा रहता है, ताकि इस दुनिया में धन के बल पर उन्हें तथाकथित सुख और आराम मिल सके।

'पर्णकुटी' तो उन्हीं की है, जो सेवा व साधना की एक उज्ज्वल और देदीप्यमान मूर्ति हैं, जिन्होंने अपना सारा जीवन इन गरीब, अकिंचन,

असहाय और दलित जनो के आसू पोछने मे लगा दिया है, जो यह नही जानते कि भरपेट भोजन करना किसे कहते है, जो अनन्त कष्टो और अपमानो को सहकर भी गले से आवाज नही निकाल सकते, और जिन्हे मनुष्य की खुदी और बेदिली ने उन पशुओ की भाति ही बना डाला है, जिनके साथ खेतो मे उनका सभी ऋतुओ मे जीवन बीतता है। 'पर्णकुटी' मे वह 'नगा फकीर' ही रह सकता है जिसके पास एक भी ऐसा पैसा नही, जिसे वह अपना कहे, जिसका धन गरीबो के दिलो से निकला आशीर्वाद ही है, और जिसका स्वर्ग पददलितो की टूटी-फूटी, और गदी उन झोपडियो ही मे है, जहा उसे सेवा करने का सदा मौका मिल सके।

'पर्णकुटी' असख्य दिलो को तसल्ली और प्रेम प्रदान करने वाले उसी बापू की है, जिसका दुनिया मे कोई शत्रु नही, भले ही गुमराह लोग उसे अपना दुश्मन मानें, जिसका हृदय ससार के किसी भी कोने से उठी हुई वेदना-भरी आवाज से दहल उठता है और जिसका सारा समय इसी सोच-विचार मे बीतता है कि वह दुखी और लडखडाती दुनिया का सारा पाप अपने ही ऊपर लेकर उसका उद्धार जल्द-से-जल्द किस प्रकार कर डाले !

: २ :

अमृत की बूंद

शरद पूर्णिमा की चमकती-सी चांदनी में बासोंदी बनाकर खाना इस देश में एक आम रिवाज है। शुभ्र चांदनी में सफेद दूध का ख्याल आना स्वाभाविक ही है। पर लोगों का यह भी ख्याल है कि उस दिन चांद से अमृत की एक बूंद टपकती है। हरेक व्यक्ति चाहता है कि वह बूंद उसकी ही बासोंदी में गिरे और उसे अमर बना दे। अमृत की बूंद की यह कल्पना केवल किसी कवि की उड़ान हो सकती है। और यह बात लोग नहीं समझते, ऐसी बात नहीं। पर फिर भी हम इस कल्पना का स्वागत बड़े चाव से करते हैं और मन में शायद एक नन्ही आशा भी छिपी रहती है—काश, यह बात सच हो। अगर उसमें सच होने की थोड़ी-सी भी सम्भावना हो तो अमर हो जाने का सुनहरा मौका क्यों खोया जाय?

अमृत की बूंद की यह कल्पना है बड़े मार्के की। वह इन्सान के दिल की एक छिपी हसरत का इजहार कर देती है। हम चाहें कहें या न कहें, पर सभी लोग यह चाहते जरूर हैं कि मुमकिन हो तो अमर बन जायं। और इस ख्वाहिश को पूरा करने की कोशिशें अजीब-अजीब ढंगों में जाहिर होती हैं। हजारों वर्ष पहले के राजाओं ने अपनी यादगार कायम करने के लिए विशाल 'पिरामिड' खड़े करवाये। उनके अन्दर राजाओं के 'मृत शरीर' आज भी हैं। इतने लम्बे अर्से तक लाशों को भी कायम रखने के लिए क्या-क्या तरकीबें उन्होंने निकाली थीं और कौन-कौन से मसाले तैयार करवाये थे, आज भी हमें नहीं मालूम। पर उनकी सूझ बड़ी तेज थी और उनकी हिम्मत की बदौलत उनकी यादगार अभी कायम है भी, भले ही हम उनके अलग-अलग नाम न जानते हों!

शाहजहां ने अपनी प्रेयसी की स्मृति अमर करने के लिए उस

ताजमहल का निर्माण करवाया, जो न जाने कितने कवियो और कला-कारो को प्रेरणा और स्फूर्ति देता रहा है, और आज भी देता है । उस-ने दुनिया के कोने-कोने से लोगो को अपनी खूबसूरती से खींचा है । वह और कितनी सदियो तक दुनिया को शाहजहां और मुमताज की दुख-भरी प्रेम-कहानी की याद दिलाता रहेगा, कौन जाने । पर समय के सदा बढते हुए कदम के नीचे कुचल जाने से बचने का शाहजहा ने एक भगीरथ प्रयत्न किया, इससे कौन इन्कार कर सकता है ?

आज भी विभिन्न देशो के राजा अपना नाम कायम रखने के लिए आलीशान महल बनवाते हैं । धनी लोग दान देकर ऐसी सस्थाओ का निर्माण कराना चाहते है, जो उनकी कीर्ति को हमेशा फैलाती रहे । कवि और लेखक ऐसी कृतियो को जन्म देने का सतत प्रयत्न करते है, जो उनके नाम को सदियो तक दुनिया मे रोशन करती रहे । शिल्पी और कलाकार ऐसी कलापूर्ण कारीगरी दर्शाना चाहते है, जो उनकी स्मृति और कला को अमर बना दे । राजनीतिज्ञ देश मे ऐसी उथल-पुथल मचा देने की कोशिश करते हैं, जो इतिहास मे उनका नाम अमिट अक्षरो मे लिखा दे । और बेचारे आम इसानो की यही तमन्ना रहती है कि उनकी पुश्ते कायम रहे, ताकि उनका वश न डूबे । उनकी कब्र पर नाम लिखा रहे और जो लोग कब्रिस्तान मे किसी वक्त आवे, वे उनका नाम ही पढकर उनकी याद कर ले । फिर भी न जाने बेचारे कितने गरीबो को कब्र भी नसीब नही होती और उनका नाम-निशान ही इस दुनिया से हमेशा के लिए उठ जाता है । न जाने कितने फूल बिना खिले ही मुरझा जाते है और उनकी हस्ती सदा के लिए मिट जाती है ।

पौराणिक साहित्य मे समुद्र-मथन का वर्णन काफी रोचक है । उस का ठीक क्या अर्थ लगाया जाता है, मुझे पता नही । शायद कोई रूपक ही होगा । पर मैं तो इस समुद्र-मथन को मनुष्य के हृदय-मथन के ही रूप मे देखता हू । जो रत्न उस मथन के बाद बाहर निकले, वे केवल मनुष्य की आन्तरिक भावनाओ और आकाक्षाओ के प्रतीक है । अमरत्व की भावना मनुष्य मे शुरू से ही रही है और उसी कामना का प्रतीक अमृत है । जिन देवो ने उस अमृत का पान किया, वे अमर हो गये ।

या यो कहें कि चूकि अमृत पीकर अमर हो गये, इसलिए हम उन्हे देवता मानते हैं। चूकि सुर अमर हैं, हम उन्हे पूजते है और उन्हे पूजकर खुद भी अमर होने की लालसा को शायद अनजाने ही व्यक्त करते रहते हैं।

लेकिन अमर होने की यह ख्वाहिश इसान मे क्योकर पाई जाती है ? क्या इसलिए कि वह इस दुनिया मे हमेशा के लिए जिन्दा रहना चाहता है ? अगर हम अपने दिलो को टटोलकर देखें तो मौत इतनी बुरी चीज नही है, जितनी हम उसे गफलत मे समझते हैं। क्या सचमुच हम इस संसार मे सदा के लिए रहना चाहते हैं, ताकि उसके भोग भोगें ?

अगर इस दुनिया मे मौत न होती तो हमारा जीवन क्या ज्यादा सुखी होता ? मैं ऐसा नही मानता। अगर मौत न होती तो हम दुनिया से तग आकर खुदकशी करने की कोशिश करने लगते। यूनान के साहित्य मे एक ऐसी कथा है भी। एक नौजवान, जिसको अमरत्व का वर मिला था, अपनी जिदगी से बिलकुल ऊब गया और मामूली इंसानो को बड़ा भाग्यशाली मानने लगा, जिनके लिए मृत्यु ईश्वर की एक कुदरती देन है। अगर मौत न होती तो इसान अपनी मुहब्बत और हम-दर्दी की भावनाओ को धीरे-धीरे खो बैठता। मा-बेटा, भाई-बहन, पति-पत्नी और मित्र एक-दूसरे से प्रेम करते-करते आखिर नीरस बनने लगते और भगवान् से मौत की प्रार्थना करते। मौत का डर हमारे दिलो को जोड़े रखता है, एक-दूसरे के सुख-दुःख मे हमदर्दी का सचार कराता है और चंद दिनो की जिन्दगी लड़-भिड़कर नहीं, बल्कि मुहब्बत से पेश आकर बिताने को प्रेरित करता है। हम अनायास गाने लगते हैं—

"है बहारे बाग दुनिया चंद रोज !

. .. .

फिर तुम कहां और मैं कहां ऐ दोस्तो,
साथ है मेरा तुम्हारा चंद रोज !"

अगर मौत न होती तो फिर हम परमेश्वर को भी क्यो याद करते ? इस दुनिया मे मृत्यु का भय ही हमारी जिन्दगी को नमकीन बनाये रखने मे बड़ी मदद करता है, नहीं तो हम ऐश-आराम में डूबकर अपना जीवन

ऐसा बना डालते कि पशु-पक्षी भी हमारी ओर देखकर शर्माते और हँसते। मौत के बाद हमे अपने कर्मो के अनुसार ही सुख या दुख हासिल होगा, इसी ख्याल से हम पुण्य कमाने की कोशिश करते है और पाप से दूर रहने का यत्न करते है। अगर इसी दुनिया मे हमेशा के लिए रहना हो तो फिर पाप और पुण्य की हम फिक्र क्यो करने लगे ? तब तो सुख और दु ख के निर्माता हम ही बन जाते और दूसरो को दबाकर और चूसकर सदा अपने-अपने आराम की फिराक मे ही रहते।

हम फिर अमरता के पीछे इतने पागल क्यो रहते है ? हम क्यो चाहते है कि हमारा नाम हमेशा कायम रहे और हमारी कारगुजारिया इस दुनिया मे सदा चमकती रहे ? शायद इसलिए कि इस बदलते, बिगडते और क्षणिक ससार मे हम अपने जीवन की यादगार को अमर बना दे। विनाश मे अविनाशी हस्ती और नाम को स्थापित कर दे। मरण के बीच अमरता का निर्माण कर सके।

असली बात तो यह है कि हम अपनी आत्मा की अमरता नही पहचानते है, पर यह हमारी आत्मा का ही अमरत्व भाव है जो इस दुनिया मे अपना नाम कायम रखने की ख्वाहिश के रूप मे जाहिर हुए बिना नही रहता। अगर हम अपने अविनाशी स्वरूप को जानते तो फिर नश्वर ससार मे अपना यादगार अमर करने की फिक्र न करते। पर अपनी हस्ती व नाम को कायम रखने की कोशिश कर हम यही अनजाने प्रकट करते हैं कि हमारे अन्दर ऐसा कोई शाश्वत तत्व है, जो हमारे जीवन पर अपनी झलक व छाया डाले बिना नही रहता। मरने के बाद हमारा क्या होगा, हम जानते नही। इसीलिए अपनी यादगार दुनिया मे ही स्थायी और सुरक्षित कर देना चाहते है। यह प्रयत्न है तो बिलकुल बेकार, हमारा भोलापन ही है, क्योकि मरने के बाद हमे इससे क्या कि हमारा नाम कायम रहता है या नही। हमे उसका कोई इल्म न हो सकेगा। पर हमारे अन्तरशब्द की गूज अनायास ही हमारे दिलो मे इस तरह की आकाक्षाए पैदा कर देती है।

किन्तु क्या अमरता का इस तरह पीछा करने से हम अमर हो सकते है ? आजतक न जाने कितने राजा और उनके साम्राज्य फले-फूले और

फिर मिट्टी मे मिल गये न जाने कितने महल बडी कुशलता से बने, शान-शौकत से सजे रहे और फिर बेनिशान हो गये, न जाने कितने महान ग्रन्थ लिखे गये, जिनका आज नाम-निशान भी नहीं है; न जाने कितनी संस्थाएं कायम की गई, जिनका कोई भी लेखा-जोखा मौजूद नहीं; न जाने कितने राजनीतिज्ञ और नेता अपने-अपने समय मे जनता के देवता बने रहे, और बाद की पीढियों को उनका नाम भी याद न रहा।

दूसरी ओर ऐसे भी काफी ग्रंथ है, जिनके लेखकों के नाम व जीवन के बारे मे हम नही जानते, पर जिनकी हस्ती करोडो लोगो के दिलो मे है और रहेगी। वेदो, पुराणों व उपनिषदो के सभी कवियो के ठीक नाम हमें नही मालूम। उन साधक कवियो ने यह भी फिक्र न की कि उनका नाम अमर हो। पर इन महान् ग्रंथों का स्थान दुनिया के अन्त तक—अगर दुनिया का कोई अन्त होगा—अवश्य रहेगा। अजन्ता-एलोरा

कर हँसती रही, खुश होती रही। पर जब बच्चा थक गया तो मा को रहम आया। उसने बच्चे के पास जाकर उसका एक हाथ उठाकर उसके सिर पर रख दिया। बच्चे ने देखा कि परछाई उसकी पकड मे आ गई। वह खिलखिला कर हस पडा और फिर मा ने उसे चूमकर अपनी गोद मे उठा लिया।

यही खेल हम खेल रहे है। दुनिया मे अमरता हासिल करने के लिए तरह-तरह के उपाय करते है, पर वह हाथ नही लगती। लेकिन जिन्होने अपने स्वरूप को पहचान लिया है, वे इस फिजूल के झमेले मे नही पडते। अमरता तो उनके दिल मे ही समाई हुई है। वे अपना अनन्त आनन्द दुनिया को भी बाटते रहते है, जगत की सेवा मे ही अपनी सारी शक्तिया जुटा देते है। यह उन्नत ससार ही उनका अमर स्मारक है--

"Leaving no memorial but a world
Made better by their lives"

अर्थात्—वे अपने पीछे कोई स्मारक नही छोडते, बल्कि अपने जीवन से इस ससार को ही अधिक अच्छा बना जाते है।

: ३ :

आज़ादी !

गणपति-उत्सव महाराष्ट्र की एक खास चीज है। दस दिन तक हरएक छोटे और बड़े शहर में व्याख्यानों का तांता बंध जाता है। रोज नये-नये व्याख्याता जनता के सामने आते हैं। कभी-कभी तो नाटकीय रंगमंच जैसा भाव आ जाता है। उसी फन्दे में इस वर्ष मैं भी फंस गया। आखिरी दिन तो मेरी तबीयत ठीक न थी। फिर भी अपना पार्ट पूरा करना ही पड़ा। थककर जब रात के ग्यारह बजे सोने लगा तब पासवाले मकान में से दो-तीन औरतों के गाने की कर्कश आवाज आने लगी। उस बेरहम आवाज को गाना तो किसी भी तरह नहीं कहा जा सकता था। बड़ी बेचैनी हुई। सोचा कि अब तो नींद भी हाथ से गई, बुखार जरूर घर दबोचेगा। सिर तक चादर ओढ़ने की कोशिश की ताकि 'मधुर गायन' न सुनाई पड़े, लेकिन गर्मी ने अपना प्रताप दिखलाया और सिर खोलना ही पड़ा। कानों में अंगुली डालकर भी सोने की बहुत कोशिश की, लेकिन सब बेकार हुई। गुस्सा तो बेहद आया, लेकिन लाचारी थी। रात-भर करवटें बदलता पड़ा रहा।

आखिर इन औरतों को रात में इस तरह भद्दी आवाज में गाकर लोगों की नींद हराम करने का क्या हक है? मैं सोचने लगा। रात में शोर मचाना तो जुर्म समझा जाना चाहिए। लेकिन शायद इन औरतों से शोर बन्द करने को कहा जाता तो फौरन जवाब मिलता—"तुम कौन होते हो हमारा गाना बन्द करनेवाले? हमारी खुशी, हम जबतक चाहेंगे, गाते रहेंगे! देखें, कौन रोकता है?"

बीमार था। जब उसके सोने का वक्त होता, तभी पीछे से आवाज़ आती—"एक पैं एक ग्यारह", "एक पै दो बारह", एक पै तीन तेरह।"...इसी तरह सौ तक कई बार गिनती पढी जाती। कमबख्त लडके भी स्कूल मे जोर-ज़ोर से चिल्लाते थे। कुछ दिन बाद उस गिनती के काम का समय बदल गया, नही तो हम लोगो के पागल हो जाने की भी शायद नौबत आ जाती। पडिताइन से कुछ कहने की तो हिम्मत मुझमे न हुई। आजादी के इस ज़माने मे कौन किसको क्या कहे!

क्या उन औरतो को या इस पडिताइन को आज़ादी का सचमुच हक था ? अगर इस तरह की आज़ादी समाज मे दाखिल हो जाय तो क्या हाल होगा ? अगर मुझे अपने पडोसी की नीद बिगाडने का पूरा अधिकार है तो मेरे पडोसी को भी यही हक हासिल है। लेकिन अगर इस तरह की आजादी का डका पिटने लगे तब तो समाज मे उथल-पुथल मच जायगी। "मै जो चाहूगा सो करूगा !" कहनेवाले बहुत लोग है। लेकिन वे कभी यह नही सोचते कि अगर सभी इसी 'जन्मसिद्ध अधिकार' का भोग करने लगे तो क्या तमाशा होगा ?

हम जो चाहे वह कर ही कैसे सकते हैं ? अपने दैनिक जीवन मे हम कई घटे तो कुदरत के गुलाम रहते हैं। हमे अगर जिन्दा रहना है तो कुछ घटे अवश्य सोना चाहिए। खाने-पीने मे कुछ समय जरूर बिताना पडता है। इसके अलावा अपनी रोज़ी के लिए हमे शारीरिक या मानसिक परिश्रम भी करना पडता है। इस तरह बे-रोक-टोक आज़ादी तो हमारे लिए नामुमकिन है। जो कुछ आजादी हम भोग सकते हैं वह भी काफी सीमित ही हो सकती है।

बिलकुल निजी मामलो मे तो हमे आजादी होनी ही चाहिए। मै किस तरह के कपडे पहनू, किस प्रकार का खाना खाऊ, कैसे मकान मे रहू, किस धर्म का अनुयायी बनू, किससे शादी करू व किनको दोस्त बनाऊ—इस तरह की शख्सी बातो मे किसीका हुक्म नही सुनना चाहता, हा, सलाह भले खुशी से लू ! लेकिन जिन कार्यों मे समाज से हमारा सीधा सम्पर्क आता है उनमे पूरी आजादी रखने से क्या हाल होगा, वह शुरु की दो मिसालो से साफ ज़ाहिर है। अगर रात मे जब

चाहूं ग्रामोफोन बजाऊं, मोटर को सड़क के जिस ओर चाहूं, चलाऊं, आफिस में जब चाहूं तब काम करूं और जब दिल हो तब गाने लगूं, तो बहुत जल्द ही मुझे पागलखाने या जेलखाने का मेहमान बनना पड़ेगा।

असल में आजादी एक सामाजिक रिश्ता है, जिसका ख्याल न रखने से किसीको स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। एक दूसरे की आजादी और सुविधा का ध्यान रक्खे बिना हम सच्ची आजादी हासिल नहीं कर सकते। संयम के बिना स्वतन्त्रता बेकार हो जाती है। समुद्र की मछली जैसा कौन आजाद है? वह जिधर चाहे जा सकती है। लेकिन इसलिए क्या हम मछली बन जाना चाहेंगे? मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे समाज में संयम के साथ रहकर आजाद बनना चाहिए। इसीमें उसकी शोभा है।

: ४ :

'मानुषं रूपं'

अर्जुन को कृष्ण भगवान् से बहुत-सा तत्वज्ञान सुनकर भी तसल्ली न हुई। दुनिया मे रहकर निष्काम-वृत्ति से अपना धर्म-पालन करने का उच्चतम आदर्श उसने सुना और समझा भी, पर केवल इस ससार की चीजो को देखकर वह सतुष्ट नही होना चाहता था। वह भगवान् के 'विश्वरूप' का दर्शन करना चाहता था।

भगवान् ने भक्त की इच्छा पूर्ण की। उसे दिव्य दृष्टि प्रदान कर अपना विशाल, अनन्त और देदीप्यमान रूप दिखा दिया। पर अनोखा विश्वरूप देखकर अर्जुन घबडा गया और उसकी शान्ति भग हो गई। वह हाथ जोडकर बोला, "आपका अपूर्व रूप देखकर मेरे रोये खडे हो गये है और भ्रम से मेरा मन व्याकुल हो गया है। इसलिए हे देव, आप अपना पहले का ही रूप फिर दिखाइये और प्रसन्न होइए।"

भगवान् ने फिर अपना चिर-परिचित मानवरूप धारण कर लिया और अर्जुन के होश ठिकाने आये—

"दृष्ट्वेद मानुषं रूप तव सौम्य जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्त. सचेता प्रकृति गतः॥"

गीता के इस ग्यारहवे अध्याय का विद्वान् पडित ठीक क्या अर्थ लगाते है, मुझे मालूम नही, पर मेरे लिए 'रूपमैश्वर' और 'मानुप रूप' का आध्यात्मिक अर्थ बिलकुल साफ है। मै मानता हू कि विश्वरूप दर्शन कराकर भगवान् अर्जुन को बतलाना चाहते थे कि मनुष्य को इस ससार के परे की अनोखी दुनिया को जानने की चिंता मे नही पडना चाहिए। मनुष्य मात्र को भूलकर जगलो मे तपस्या व साधना करके 'विश्वरूप' के दर्शन भले हो जाय, पर यदि हम अपना मानव-धर्म अनासक्त बुद्धि से निभाते रहे तो इसी 'मानुप रूप' मे उच्चतम

शान्ति और आनन्द के दर्शन किये जा सकते हैं। पिंड मे ही ब्रह्माण्ड की झलक मिल सकती है।

जो हो, मै तो गीता के सारे दर्शन का यही सार मानता हू। सन्यास, योग और कठिन तपस्या की जरूरत नही है। मानव-धर्म निभाना ही सबसे बड़ी साधना है। अपनी मानवता को भूलकर जो 'दर्शन' के रहस्य को खोजने की कोशिश करता है, वह व्याकुल और बेचैन होगा। जिसने 'मानुष रूप' मे ही 'ईश्वर' के दर्शन कर लिये, उसने सबकुछ पा लिया।

दुनिया इन्सान को हिकारत की निगाह से देखती है, उसे पापी, पतित और नापाक समझती है। अपने कर्त्तव्य को ठुकरा कर साधु, सन्यासी लगोटी लगाकर जगलो की ओर भागते हैं। कठिन योग और तप करते हैं। फिर भी शान्ति और आनन्द हाथ नही आते। यह मुमकिन है कि आखिर मे उन्हे कामयाबी हासिल हो भी जाती हो। पर इस रास्ते हमे जाने की जरूरत नही। हम तो अपनी घर-गिरस्ती मे रहकर इन्सान के कधे-से-कधा मिलाकर अपना दुनियावी काम-काज करते हुए ऊंचे-से-ऊचे और गहन-से-गहन तत्व को देख और समझ सकते हैं।

ईसा से किसीने पूछा—"आपके सारे उपदेशो का सार क्या है?"

"अपने जैसा ही अपने पड़ोसी को प्यार करो।" उत्तर मिला। इसी तरह को उन्होने समझाते हुए कहा कि अगर कोई इन्सान अपने भूखे भाई को अपने दर से लौटा देता है, किसी प्यासे आदमी को पानी देने से इन्कार कर देना या अपने बीमार पड़ोसी की सार-सम्भाल करने की फिक्र नही करता तो मौत के बाद खुदा उससे कहेगा कि जब मैं भूखा था तुमने मुझे खाना नही दिया; जब मैं प्यासा था तुमने मेरे सूखे गले मे पानी नही डाला; बीमार था, तुमने मेरी सेवा नही की। वह इन्सान हैरान होकर पूछेगा, "ऐ परवरदिगार, ऐसा मैने कब किया? आपके लिए ऐसा मैं क्योंकर करता?" तब उसे जवाब मिलेगा, "दुनिया मे तुमने मेरे बन्दों की सेवा नही की, इसलिए मेरी भी खिदमत नही की।"

इन्सान की सेवा और मुहब्बत का यही पैगाम मुहम्मदसाहब ने भी अरबों को सुनाया। प्रेम व अहिंसा का यही सन्देश इस युग की

सबसे ऊची हस्ती ने अपने सेवाग्राम की छोटी-सी कुटी से सारी दुनिया को दिया ।

रामकृष्ण परमहस के पास एक नौजवान आया और उनके चरणो की धूल लेकर उनसे दीक्षा देने की प्रार्थना की। रामकृष्ण ने मुस्करा-कर पूछा—

"क्या तुम अकेले ही हो ? तुम्हारे घर मे और कोई नही ?"

"बस, एक बूढी मा है, महाराज !"

"फिर तुम दीक्षा लेकर सन्यासी क्यो बनना चाहते हो ?"

"मै इस ससार को त्यागकर मोक्ष चाहता हू ।"

भगवान् रामकृष्ण ने बडे प्रेम से समझाकर कहा, "बेटा, अपनी बूढी माता को असहाय छोडकर तुम्हे मोक्ष नही मिल सकती । जाओ, दिल लगाकर अपनी मा की सेवा करो। उसीमे तुम्हारा कल्याण है, उसीसे तुम्हे मोक्ष मिल जायगी ।"

कितनी गहरी है यह नसीहत ! और वह भी एक ऐसे शख्स की, जो अपने जीवन-मरण का सारा मसला सुलझा चुका था, जिसका एक-एक पल ब्रह्माड की असीम शान्ति और आनन्द मे बीतता था, और जिसके दिल की एक-एक धडकन असख्य प्राणियो के दिलो की अविरत धडकन थी ।

हम ईश्वर की पूजा करते-करते उसके दुखी-गरीब बन्दो की याद नही रखते, अपने मदिरो और गिरजो के घटो की आवाज मे पडोसी की कराहो को नही सुन पाते, मुक्ति और स्वर्ग के स्वप्नो के बीच अपना मानव-धर्म पालना भूल जाते है। धन्य थे राजा शिवि जो भगवान् से यह प्रार्थना कर सके—

"नत्वह कामये राज्य न स्वर्ग ना पुनर्भवम् ।
कामये दु.खतप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम् ।।"

और बापू का प्यारा भजन भी तो कुछ इसी तरह का है—

"वैष्णव जन तो तेने कहीये जे पीड पराई जाणे रे !
परदु:खे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे ।"

जिसके दिल मे दूसरो के लिए प्रेम, सहानुभूति और दर्द नही, वह

इन्सान कैसा ? और अगर हमने इन्सानियत खो दी तो फिर बचाने के लिए हमारे पास रह ही क्या जाता है ? हम भले ही प्रगाढ ज्ञानी और पंडित हों, सारे तीर्थों की खाक छान चुके हों, सभी धार्मिक ग्रंथ कंठस्थ कर चुके हों और रोज अपने कई घंटे पूजा-पाठ में बिताते हों, पर यदि हम अपनी मानवता को भूल गये तो हमारा सारा मजहब और इल्म किस काम का ?

"कबिरा सोई पीर है जो जाने परपीर !"

पुरानी कहावत है—"मन चंगा तो कठौती में गंगा।" अगर हमारा दिल साफ है, अगर हमने अपनी कुदरती मुहब्बत और हमदर्दी कुचल नहीं डाली है, अगर हम अपने पड़ोसी को अपने जैसा ही प्यार कर सकते हैं और यदि हमने अपनी आत्मा की खुशबू को सब प्राणियों में भरने का प्रयत्न किया है तो फिर हमें मुक्ति, स्वर्ग और परमेश्वर की चिन्ता करने की जरूरत नहीं। प्राणीमात्र से दूर और कोई खुदा नहीं हो सकता। अगर है तो उसकी फिक्र करने की हमें आवश्यकता नहीं। देवता बन जाना आसान है, इन्सान बनना कठिन है।

भगवान् अपने बंदों के प्रेम के भूखे हैं। फिर हम भगवान् की अर्चना करते समय उनके बंदों को कैसे भूल सकते हैं ?

"सबसे ऊंची प्रेम सगाई !
दुर्योधन की मेवा त्यागी, साग विदुर घर खाई।
झूठे फल शबरी के खाये बहुविधि प्रेम लगाई।"

'विश्वरूपदर्शन' से बजाय हमें 'स्वरूप-दर्शन' की ही जरूरत है। मनुष्य अपनी मानवता को पहचानकर और उसे जगाकर कने-मे-कने ईश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। मनुष्य हीन और नश्वर नहीं, उसकी मानवता अमर और उन्मुक्त है, उसकी हस्ती इस ब्रह्मांड में किसी से कम नहीं। इसी अनुपम गौरव का अनुभव कर 'महाभारत' का ऋषि भी कह उठा—

"न मनुष्यात् श्रेष्ठतरम् हि किंचित् !"

: ५ :

उनकी किसीसे नहीं बनती !

एक विशाल काच के महल मे न जाने किधर मे एक भटका हुआ कुत्ता घुस गया। हजारो काचो के टुकडो मे अपनी शक्ल देखकर वह चौका। उसने जिधर नजर डाली, उधर ही हजारो कुत्ते दिखाई दिये। वह समझा कि ये सब कुत्ते उसपर टूट पडेगे और उसे मार डालेगे। अपनी भी शान दिखाने के लिए वह भूकने लगा। उसे सभी कुत्ते भूकते हुए दिखाई पडे। उसकी ही आवाज की प्रतिध्वनि उसके कानो मे जोर-जोर से आती। उसका दिल धडकने लगा। वह और जोर से भूका। सब कुत्ते भी अधिक जोर से भूकने दिखाई दिये। आखिर वह उन कुत्तो पर झपटा, वे भी उसपर झपटे। बेचारा जोर-जोर से उछला-कूदा, भूका और चिल्लाया। अन्त मे गश खाकर गिर पडा।

कुछ देर बाद उसी महल मे एक दूसरा कुत्ता आया। उसको भी हजारो कुत्ते दिखाई दिये। वह डरा नही, प्यार से उसने अपनी दुम हिलाई। सभी कुत्तो की दुम हिलती दिखाई दी। वह खूब खुश हुआ और कुत्तो की ओर अपनी पूछ हिलाता बढा। सभी कुत्ते उसकी ओर दुम हिलाते आगे बढे। वह प्रसन्नता से उछला-कूदा, अपनी ही छाया से खेला, खुश हुआ और फिर पूछ हिलाता बाहर चला गया॥

जब मै अपने एक मित्र को हमेशा परेशान, नाराज और चिडचिडाते देखता हू तब इसी किस्मे का स्मरण हो जाता है। मै उनकी मिसाल भूकनेवाले कुत्ते से नही देना चाहता। यह तो हद दर्जे की बदतमीजी होगी। पर इस कहानी से वे चाहे तो कुछ सबक जरूर सीख सकते है।

यह दुनिया एक काच के महल-जैसी है। अपने स्वभाव की छाया ही उसपर पडती है। 'आप भले तो जग भला', 'आप बुरे तो जग बुरा।" अगर आप प्रसन्न-चित्त रहते है, दूसरो के दोषो को न देखकर

उनके गुणो की ही ओर ध्यान देते हैं, तो दुनिया भी आपसे नम्रता और प्रेम का बर्ताव करेगी। अगर आप हमेशा लोगो के ऐबो की ओर देखते है, उन्हे अपना शत्रु समझते है और उनकी ओर झूका करते है तो फिर वे क्यो न आपकी ओर गुस्से से दौडेगे ? अग्रेजी मे भी एक कहावत है कि अगर आप हँसेगे तो दुनिया भी आपके साथ हँसेगी, पर अगर आपका गुस्सा होना और रोना ही है तो दुनिया से दूर किसी जगल मे चले जाना हितकर होगा।

अमरीका के मशहूर नेता अब्राहम लिंकन से किसीने एक बार पूछा, "आपकी सफलता का सबसे बडा कारण क्या है ?"

उन्होने जरा देर सोचकर उत्तर दिया, "मै दूसरो की अनावश्यक नुक्ताचीनी कर उनका दिल नही दुखाता !"

इसी तरह के प्रश्न का उत्तर देते हुए हेनरी फोर्ड ने कहा था, "मै हमेशा दूसरो के दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करता हू।"

मेरे मित्र की यही खास गलती है। वे दूसरो का दृष्टिकोण समझने की कोशिश नही करते। दूसरो के विचारो की, कामो की, भावनाओ की आलोचना करना ही अपना परम धर्म समझते हैं। उनका शायद यह ख्याल है कि ईश्वर ने उन्हे लोगो को सुधारने के लिए ही भेजा है। पर वह वे भूल जाते है कि शहद की एक बूद ज्यादा मक्खियो को आकर्षित करती है बजाय एक सेर जहर के।

दुनिया मे पूर्ण कौन है ? हरेक में कुछ-न-कुछ त्रुटियां रहती हैं, प्रत्येक व्यक्ति से गलतियां होती है। फिर एक-दूसरे को सुधारने की कोशिश करना अनुचित ही समझना चाहिए। जैसा ईसा ने कहा था, लोग दूसरो की आखो का तिनका तो देखते है, पर अपनी आख के शहतीर को नही देखते। दूसरो को सीख देना तो बहुत आसान काम है; अपने ही आदर्शों पर स्वय अमल करना कठिन है।

अगर आप अपने को ही सुधारने का प्रयत्न करे और दूसरों के अवगुणों पर टीका-टिप्पणी करना बद कर दें तो हमारे मित्र-जैसा आपका हाल कभी नही होगा। अगर हमारा जीवन एक चमकती रोशनी की तरह आकर्षक होगा तो सैकडो-हजारो परवाने बरबस एकत्र होगे और

हमारे जरा से इशारे पर बडी-से-बडी कुरबानी करने के लिए तैयार रहेगे । पर अधेरे की ओर कौन खिचता है ? वहा तो ठोकर खाकर गिर जाने की ही अधिक सम्भावना रहेगी ।

हा, इसी सिलसिले मे एक बात और । आप तो दूसरो की नुक्ता-चीनी नही करेगे, ऐसी उम्मीद है, पर दूसरे ही अगर आपकी नुक्ता-चीनी करना न छोडे तो ? मेरे मित्र अपनी बुराई या आलोचना सुन कर आग-बबूला हो जाते हैं, भले ही वह दुनिया की दिन भर बुराई करते रहे । पर आपके लिए तो ऐसे मौके पर दादू की पक्तिया गुनगुना लेना बडा कारगर होगा—

"निन्दक बाबा बीर हमारा,
बिन ही कौडी वहै बिचारा !
आपन डूबे और को तारै,
ऐसा प्रीतम पार उतारै !

और अगर सचमुच कुछ त्रुटिया है, जिनकी ओर 'निन्दक' आपका ध्यान खीचता है तो उन अवगुणो को दूर करना आपका कर्त्तव्य हो जाता है । जिसने उनकी ओर ध्यान दिलाया, उसका उपकार ही मानना चाहिए न ? एक दिन एक सज्जन से कुछ गलती हो गई । हमारे मित्र तुरन्त बिगडकर बोले—

"देखिये महाशय, यह आपकी सरासर गलती है । आइन्दा ऐसा करेगे तो ठीक नही होगा ।" बेचारे महाशयजी बडे दुखी हुए । उनका पूरा अपमान हो गया । मन मे क्रोध जाग्रत हुआ और वे बिना कुछ उत्तर दिये ही उठकर चले गये । दूसरे दिन मैंने उनसे एकान्त मे कहा, "देखिये, गलती तो सभीसे होती है, ऐसी गलती मैं भी कर चुका हू । दुखी होने का कोई कारण नही । आप तो बडे समझदार हैं । कोशिश करें तो यह क्या, बडी-से-बडी गलतिया सुधारी जा सकती है । ठीक है न ?"

उनकी आखो मे आसू छलछला आये । बडे प्रेम से बोले, "जीहा, मैं अपनी गलती मानता हू । आगे भला मै वही गलती क्यों करने लगा ! पर कोई मुहब्बत से पेश आये तब न ! आदमी प्रेम का भूखा रहता है, केवल रोटी का नही ।"

थोड़े-से मीठे शब्दों ने अपना काम तुरन्त कर दिया। और अपने व्यवहार में मिठास लाने के लिए एक कौड़ी भी तो खर्च नहीं होती, पर करोड़ों दिलों को जीता जा सकता है। सभीके दिल हमारे जैसे ही हैं। किसी दूसरे व्यक्ति का दिल दुखाना, उससे कड़ुआ बोलना एक सज्जन को शोभा नहीं देता—

"घट-घट में वह सांई रमता, कटुक वचन मत बोल रे !"

जब सरदार पृथ्वीसिंह ने हिंसा का मार्ग त्यागकर अपनेको बापू के सामने अर्पण कर दिया तब बापू को बहुत खुशी और संतोष हुआ। पर बापू जहां प्रेम और सहानुभूति की मूर्ति थे, वहां बड़े परीक्षक भी थे। कुछ दिनों बाद उन्होंने पृथ्वीसिंह से कहा, "सरदार साहब, अगर आप सेवाग्राम में आकर मेरे आश्रम में कामयाबी से रह सकें तभी मैं समझूंगा कि आपने अहिंसा का पाठ सचमुच सीख लिया है।"

पृथ्वीसिंह जरा चौंककर बोले, "आपका क्या मतलब, बापूजी ?"

'भाई, मेरा आश्रम तो एक 'शम्भु-मेला' जैसा ही है। जिन लोगों की कहीं नहीं बनती, अक्सर वे मेरे पास आ जाते हैं। उन सबको एक साथ रखने में मैं सीमेंट का काम करता हूं। और वह सीमेंट मेरी अहिंसा ही है।'

"मैं समझ गया, बापूजी !" पृथ्वीसिंह ने मुस्कराकर कहा। आगे की कहानी यहां कहने की जरूरत नहीं, पर इससे बापू के प्रेममय व्यवहार की एक झलक मिल जाती है। उन्होंने अपने प्रेम और सहानुभूति से कितने ही व्यक्तियों को अपनी ओर खींचा था। बापू कड़ी-से-कड़ी आलोचना कर सकते थे और करते भी थे पर हंसकर, मीठी चुटकियां लेकर, अपना प्रेम बरसा कर।

अमेरिका के मशहूर लेखक इमर्सन की एक घटना याद आती है। उन्हें गाय पालने का शौक था। इसलिए गाय और नन्हे बछड़े उनके मकान के पास एक कुटी में रहते थे। एक बार जोर की बारिश आनेवाली थी। सारी गायें तो कोठरी के अंदर चली गईं, पर एक बछड़ा बाहर ही रह गया। इमर्सन और उनका लड़का दोनों मिलकर उस बछड़े को पकड़कर खींचने लगे कि वह कुटी में चला आये। पर ज्यों-

ज्यो उन्होंने जोर से खीचना शुरू किया त्यो-त्यो वह बछडा भी सारी ताकत लगाकर पीछे हटने लगा । बेचारे इमर्सन बडे परेशान हुए । इतने मे उनकी बुड्ढी नौकरानी उधर से निकली । जैसे ही उसने यह तमाशा देखा, वह दौडी आई और अपना अगूठा-बछडे के मुह मे प्यार से डाल-कर उसे झोपडी की तरफ ले जाने लगी । बछडा चुपचाप कुटी के अन्दर चला गया ।

वह अनपढ नौकरानी किताबे और कविताए लिखना नही जानती थी, पर व्यवहार-कुशल अवश्य थी । और जब जानवर भी प्रेम की भाषा समझते है तो फिर मनुष्य क्योकर न समझेगे ?

कल हमारे मित्र का रसोइया भी बिना खबर दिये ही चलता बना । बेचारा करता भी क्या ? सुबह से शाम तक उसको महाशय की डाट ही खानी पडती थी । "तूने आज दाल बिल्कुल बिगाड दी । उसमे नमक बहुत डाल दिया ।" "अरे बेवकूफ तूने साग मे नमक ही नही डाला ।" "यह जली रोटी कौन खायगा, रे ।" इत्यादि की झडी लगी रहती थी । जब कोई चीज जरा भी बिगड जाती तब तो उसे दिल खोल-कर डाटा जाता । पर अच्छा भोजन बनने पर कभी भी तारीफ के दो शब्द न बोले जाते । "वाह ! तारीफ कर देने से तो उसका दिमाग चढ जायगा !" मेरे मित्र कह देते । ठीक है ! तो वह भी बेचारा आदमी है । उसके भी दिल है । बेचारा आठ-दस रुपये का नौकर यत्र नही बन सकता । तग आकर भाग जाने के सिवा और क्या चारा था ?

क्या आपने कभी खुद खाना पकाना सीखा है ? अगर हा, तो क्या आपको याद नही कि रोटी, दाल, साग बनाने पर आपको यह जानने की कितनी उत्कठा थी कि भोजन कैसा बना ? और जब आपकी पत्नी ने तारीफ की कि खाना सचमुच बहुत स्वादिष्ट बना है, नमक आदि सब ठीक है, तब आपको कितनी खुशी हुई होगी । अगर कोई कह देता, "अरे, कुछ जायकेदार नही बना," तो आपके दिल को कितनी चोट पहुचती ?

मित्र महाशय अपनी स्त्री पर भी बिगडते रहते है । कभी प्रेम और प्रशसा के दो शब्द बोलने की वे जरूरत ही नही समझते, मानो उनकी

स्त्री उनका घर सम्भालने के लिए एक प्रतिष्ठित नौकरानी हो। उनकी स्त्री का स्वभाव बहुत अच्छा है। बेचारी सब कडी बातें सुन लेती है और सदा अपने पति की भरसक सेवा करते रहना ही अपना धर्म समझती है। पर हमारे दोस्त भी अपने-आपको 'पतिदेव' मानने मे कभी नही चूकते। वह सचमुच स्वय को अपनी पत्नी का जीवन-साथी समझने के बजाय उसका देव ही मानते हैं और उनका विचार है कि स्त्रियो को हमेशा दबाकर रखना चाहिए, नही तो वे फिर सिर पर ही चढने लगती हैं।

कहने का मतलब यह कि उनकी किसीसे नही बनती—न मित्रो से, न आफिस के कर्मचारियो से, न पत्नी से और न घर के नौकरो से। भगवान् की दया से उनके कोई बच्चा नही है, नही तो उन बेचारे की भी पूरी शामत ही थी। उनका कहना है कि बच्चो को प्रारम्भ से ही डांट-डपटकर रखना चाहिए, प्यार करने से वे बिगड जाते हैं। पर ईश्वर गजो को नाखून नही देता, यही कुशल है।

उसपर भी मजा यह कि वे अपनी जिन्दगी और विचारो से पूरी तरह सतुष्ट है। वे मानते है कि उनका जीवन, आचार और विचार आदर्श है। दूसरे लोग, जो उनकी प्रतिष्ठा नही करते, मूर्ख है।

ग्रीस के महान् सत सुकरात ने एक बात बडे मार्के की कही थी—"जो मनुष्य मूर्ख है और जानता है कि वह मूर्ख है, वह ज्ञानी है, पर जो मूर्ख है और नही जानता कि वह मूर्ख है, वह सबसे बडा मूर्ख है।"

अच्छा हो मेरे मित्र सुकरात के इस विचार को अपने कमरे मे लिखकर टाग ले! पर उनसे यह कहने का साहस कौन करे?

: ६ :

'समय नहीं मिला !'

"मुझे आपका काम बराबर याद था, पर क्या करू बिल्कुल समय ही नही मिला। क्षमा करे !"

"खैर, कोई बात नही। अब फिर कब हाजिर होऊ ?"

"कल इसी वक्त आ जाइये। समय निकालने की जरूर कोशिश करूगा।"

कुछ इसी तरह की बाते न मालूम कितने लोगो को सुननी पडती हैं, पर अकसर न कल कभी आया और न महाशयजी को काम पूरा करने का वक्त ही मिला। हो सकता है कि वे सचमुच काफी व्यस्त रहते हो और उन्होने समय निकालने का प्रयत्न भी किया हो, पर ज्यादातर लोग कुछ न करते रहने ही मे मशगूल रहा करते है और टालमटोल करने की उन्हे आदत ही पड जाती है।

'आपका पत्र यथासमय मिल गया था, पर इन दिनो बहुत काम रहने के कारण मैं जल्द जवाब न दे सका। क्षमा करे।" इस तरह के पत्रों की भी सख्या बेशुमार ही रहती है। इस प्रकार लिखने का कुछ फैशन ही हो गया है। पर लोग भूल जाते है कि अगर बडे आदमियो को वक्त न मिलने की वजह से पत्रो का उत्तर देने मे देर भी हो जाती है तो इसका यह मतलब नही कि जो व्यक्ति खतो का जवाब देरी से देता है वह इसी कारण बडा बन जाता है। और मेरा तो यह भी अनुभव है कि जो लोग सचमुच बडे है और बहुत व्यस्त रहते है उनका पत्र-व्यवहार भी बहुत व्यवस्थित रहता है। उनका जीवन नियमित रहता है और वे रोज का काम उसी दिन समय पर निपटा देते हैं। अगर किसी सज्जन का जवाब मुझे वक्त पर नही मिलता है तो मैं या तो यह समझ लेता हू कि शायद डाक-घर की कुछ गलती से पत्र ही देर

मे पहुंचा या न भी पहुंचा हो, या फिर महाशयजी का जीवन ही अस्त-व्यस्त और ढीला होगा। वे पत्र पढ कर कही इधर-उधर डाल देते होगे और या तो फिर उन्हे जवाब देने का ख्याल अकसर नही रहता होगा या उत्तर देने के वक्त पत्र ही नही मिलता होगा। जो हो, समय न मिलने का बहाना अक्सर अपनी कमजोरी और अनियमितता को ढाकने के लिए दिया जाता है, और तारीफ के बजाय इसे एक शर्म की ही बात समझनी चाहिए। समय का अपमान करके न कोई बडा बन सका है और न बन सकेगा।

एक बार अंग्रेजी के मशहूर साहित्य-सेवी डा० जॉनसन के पास उनका एक प्रिय आया और अफसोस जाहिर करने लगा कि उसे धार्मिक ग्रंथ पढने के लिए समय ही नही मिलता।

"क्यो ?" डा० जॉनसन ने फौरन पूछा।

"आप ही देखिये, दिन-रात मिला कर सिर्फ चौबीस घंटे होते है, उसमे से आठ घंटे तो सोने मे ही निकल जाते है।"

"पर यह बात सब ही के लिए लागू है।" डा० जॉनसन ने कहा।

"और करीब आठ घंटे आफिस मे काम करना पडता है।"

"और बाकी आठ घंटे ?" डा० जॉनसन ने पूछा।

"इन्ही आठ घंटो मे खाना-पीना, हजामत बनाना, नहाना-धोना, आफिस आना-जाना, मित्रो से मिलना-जुलना, चिट्ठी-पत्री का जवाब देना, इत्यादि-इत्यादि कितने काम रहते है। मै तो बडा परेशान हू।"

"तब तो मुझे भी अब भूखो मरना पडेगा।" डा० जॉनसन एक गहरी सास लेकर बोले।

"क्यो ? क्यो ?" उनके मित्र ने तुरन्त पूछा।

"मै काफी खाने वाला आदमी हू और अन्न उपजाने के लिए दुनिया मे एक-चौथाई ही तो जमीन है, तीन-चौथाई तो पानी ही है। और संसार मे मेरे जैसे करोडो लोग है, जिन्हे अपना पेट भरना पडता है।"

"पर इतने लोगों के लिए फिर भी तो जमीन काफी है।"

"काफी कहा है ? इस एक-चौथाई जमीन मे कितने पहाड है, ऊबड-

खाबड स्थल है, नदी-नाले है, रेगिस्तान और बजर भूमि है। अब मेरा भी कैसे निभ सकेगा, भगवान् !" मित्र महोदय बडी हमदर्दी के साथ डा० जॉनसन को दिलासा देने लगे कि उन्हे परेशान होने की बिलकुल जरूरत नही है। दुनिया मे करोडो लोग रहते आये है और उन्हे सदा अन्न मिलता ही रहता है।

"आप ठीक कहते है, भाई ! पर अगर मेरे भोजन का इन्तजाम हो सकता है तो आपको धार्मिक किताबे पढने का भी समय अवश्य मिल सकता है," डाक्टर जॉनसन ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया।

डा० जॉनसन के मित्र तो कभी के चल बसे और उनका नाम भी अब कोई नही जानता, पर उनकी नस्ल तो दिन-दिन बढती ही जा रही है।

अग्रेजी की मशहूर कहावत है—"समय धन है।" पर असल बात तो यह है कि समय धन से कही ज्यादा अहम चीज है। हम रुपया-पैसा तो कमाते ही है और जितनी ज्यादा मेहनत करे, उतना ही—अगर किस्मत खराब न हो—ज्यादा धन कमा सकते हैं। लेकिन हजार परिश्रम करने पर भी क्या हम चौबीस घटो को एक भी मिनट से बढा सकते है ? इतनी कीमती चीज का फिर धन से क्या मुकाबला ! पर ईश्वर की यह भी कृपा है कि जहा वक्त बढाया नही जा सकता, वहा लाख कोशिशे करने पर वह घटाया भी नही जा सकता। आजकल की विचित्र अर्थ-व्यवस्था मे हमारे धन की कीमत रोज घट-बढ सकती है। अगर बैंक जवाब दे दे तो एक करोडपति मिनटो मे गरीब और भिखमंगा भी बन सकता है, किन्तु कुदरत का इन्तजाम नही बिगडता। समय के सागर मे शेअर-बाजार की तरह दिन मे कितने ही बार ज्वार-भाटा नही आता। धन की दुनिया मे अमीर-गरीब, बादशाह-कगाल का फर्क है। पर खुश-किस्मती से समय के साम्राज्य मे ऊच-नीच का भेद-भाव नही है। वक्त के निजाम मे सब बराबर है, उसमे आदर्श लोकतत्र है। फिर भी हम उसका महत्व नही समझते !

सन् १९३२ की बात है। महामना मालवीयजी ने उन दिनो प्रयाग मे 'एकता सम्मेलन' बुलाया था। देश के बहुत से नेता दूर-दूर से सम्मे-

लन मे शरीक होने के लिए पधारे थे। मैं तो उन दिनो युनिवर्सिटी मे विद्यार्थी था और नेताओ के दर्शन करने व उनके हस्ताक्षर लेने की लालसा से ही सम्मेलन के स्थान पर जाया करता था। वह सम्मेलन सफल नहीं हो सका। उसका खास कारण तो ब्रिटिश सरकार के राजनैतिक दावपेच ही थे। पर एक बात की ओर भी हमारा ध्यान गये बिना न रहा। सम्मेलन मे शरीक होने के लिए नेता निश्चित समय पर ही आया करते थे, पर मालवीयजी की अनुपस्थिति के कारण वे थोडी देर राह देख कर तितर-बितर हो जाते थे। उन्हे खबर मिलती कि अभी मालवीयजी के आने मे दो घटे की देर है। समय की इस गैरपाबन्दी के कारण मैंने कई नेताओ को हताश व परेशान होते देखा। कई लोग तो निराश होकर बीच ही मे सम्मेलन का कार्य छोड कर चले गए।

पर हमारी बदकिस्मती मे इस तरह के अनुभव इस देश मे इक्के-दुक्के नही है। करीब-करीब सभी सम्मेलनो व सभाओ की बैठको में इसी तरह का अनुभव मिलता है। मुझे राष्ट्रभाषा प्रचार के सिलसिले मे देश के करीब सभी प्रान्तो मे भ्रमण करने का मौका मिला है। समय-तत्परता के सम्बन्ध मे सभी सूबो की कहानी करीब एक-सी है। मीटिगो का समय पर शुरू होना हमेशा अपवाद रहा करता है, नियम नही। और कही कोई अपवाद हो जाता है तो वह नियम को सिद्ध करने के लिए ही। उडीसा मे तो कई जगह मुकर्रर किये हुए वक्त से दो घटे बाद मीटिग शुरू करने का रिवाज ही पड गया है। वक्त जाहिर करते हुए भी मीटिग बुलाने वाले व मीटिग मे आने वाले सभी सज्जन यही मान कर चलते है कि अगर चार बजे का समय दिया है तो मीटिग छः बजे शुरू होगी। उसके बाद भले ही हो, पर छः के पहले नही।

इस तरह की गैरपाबन्दी की मुख्य जिम्मेदारी मैं सयोजको की ही मानता हूँ। वे जब कई बार मीटिग के निश्चित समय के घटे दो घटे बाद तो सभा शुरू करते है, तो बेचारी जनता वहा ठीक समय आकर बैठी-बैठी क्या करे? अगर लोगो को मालूम हो जाय कि अमुक सभायें ठीक समय पर शुरू हो जाया करती है तो जिन्हें शामिल होना होगा

वे वक्त पर जरूर आयेगे। हा, कुछ लोग तो देरी करेगे ही, पर उनके लिए दूसरे सभी लोगो को दड देने की कोई वजह नही है, और सयोजको को समय भी ऐसा निश्चित करना चाहिए जो जनता के लिए सुविधाजनक हो।

पर आप यह न समझ बैठे कि यह हाल हमारे देश का ही है। इगलैड व यूरोप के दूसरे देशो मे भी समय की बरबादी दिल खोल कर की जाती है। वहा की सभाए वक्त पर होती है और लोग समय के पाबन्द भी है। लेकिन अगर सिनेमा व थियेटर के टिकट लेने के लिए लम्बी-लम्बी कतारो का दृश्य आप देखे तो हैरान होगे कि जो लोग इतने व्यस्त दीखते है और सडको पर भी दौड-दौड कर चलते है, वे इन कतारो मे दो-दो, तीन-तीन घटे लगातार किस तरह खडे रहते है और केवल यही राह देखते रहते हैं कि कब टिकट घर की खिडकी खुले। और इन कतारो मे जवान-बूढे, स्त्री-पुरुष सभी रहते है। कभी-कभी तीन घटे खडे रहने के बाद भी थियेटर मे जगह न रहने के कारण कुछ लोगो को वापस जाना पडता है। बडे-बडे टेनिस या फुटबाल के मैच देखने के लिए टिकट-घरो के सामने इसी तरह की लम्बी कतारे घटो खडी रहती है। फिर ये ही लोग बडी शान से लिखते होगे—"मुझे बडा अफसोस है कि समय न मिलने के कारण आपके पत्र का जवाब जल्दी न दे सका।"

और लतीफा तो यह है कि ये ही लोग शोर मचाते है कि उनके काम करने के घटे घटाने चाहिए। वे चाहते हैं कि आफिसो व मिलों मे उनसे कम समय तक ही काम लिया जाय। वे अधिक अवकाश और फुरसत चाहते है। आजकल की समाज-व्यवस्था मे जबकि मजदूरो के पसीने का फायदा इने-गिने पूजीपतियो की जेब मे जाता है, मजदूरों के साथ हमारी पूरी हमदर्दी होना स्वाभाविक है। पर सवाल तो यह है कि अधिक अवकाश लेकर ये लोग आखिर करेगे क्या? विद्वानो का कहना हैं कि फिर लोगो को कला व विज्ञान के लिए ज्यादा फुरसत मिलेगी। पर क्या सभी लोग कलाकार और वैज्ञानिक बन जायगे? जो हो, ज्यादा मुमकिन तो यही है कि लोग टिकट-घरो के सामने,

अगर आज हफ्ते मे कुछ दिन ही खडे होते है तो फिर रोज ही घटो खडे-खडे मक्खी मारा करेंगे, देर तक पड़े सोया करेंगे और रात को देर तक नाच-घरो मे बैठे-बैठे शराब चढाया करेंगे।

आप नाराज न हो ! मुमकिन है, आप अपने समय का बहुत अच्छा उपयोग करते हो और किसी विशेष शास्त्र का अध्ययन भी करते हो। लेकिन मैं आपको आम लोगो का एक प्रतिनिधि मान कर चला था न !

अगर आप अपने समय का पूरा फायदा उठाते है और एक मिनट भी बरबाद नही करते तो आपको मुबारकबाद ! अगर नही तो क्या आप अपने जीवन पर गहरी और तीखी नजर डाल कर देखेगे कि आप कितना वक्त जाया करते है और उसका क्या सदुपयोग किया जा सकता है ? अगर सिर्फ सुबह ही जल्दी उठना शुरू कर दे तो आप काफी समय बचा लेंगे और दिन-भर आप स्फूर्ति भी महसूस करेंगे।

पर मेहरबानी करके आप कही मशीन की तरह भी न बन जाय। घडी के ठोके के साथ अपनी जिन्दगी का ताल न बैठा ले। अगर अपने कार्य-क्रम मे आपने जरा भी लचक न रखी और उसमे भिन्नता की गुंजाइश न रही तो भी आप अपना और अपने घरवालो का जीवन सुखी न बना सकेंगे। फिर तो शायद आपका मिजाज भी चिड़चिड़ा हो जायगा और आप दूसरो पर, जो अपना समय जरा भी बर्बाद करते है, नाराज होना शुरू कर देंगे।

बस खुशमिजाज रह कर और दूसरो को भी निभा कर आप अपने वक्त का जितना अच्छा उपयोग कर सकें उतनी ही आपकी तारीफ है।

हा, और कृपया आज से किसी से यह न कहे—"मुझे समय नहीं मिला !"

: ७ :

भाई-चारा

एक बार किसी इलाके मे अकाल के आसार नजर आ रहे थे। जैसाकि अकाल के वक्त हमेशा होता है, बेचारे गरीब किसानो की दशा बिगडने लगी। उनके बच्चो की परवरिश का सवाल सबसे जरूरी था। गाव का जमीदार भला और चतुर था। उसने सोचा कि अगर सब अमीर और मध्यम श्रेणी के गृहस्थ मिल कर एक-एक गिलास भी दूध रोजाना दे दे तो गाव के सब गरीब घर के बच्चो का पालन भली भाति हो सकेगा। उसने अपनी योजना लोगो को एकत्र कर बतला दी। वह फौरन पसन्द कर ली गई और तय हुआ कि जमीदार के एक बडे पीतल के बर्तन मे लोग सुबह एक-एक गिलास दूध डलवा दिया करे, ताकि वह दूध गाव के बच्चो को बाटा जा सके।

उस दिन रात को सोते वक्त सभी ने सोचा—"अगर मैं दूध के बजाय एक गिलास पानी ही ज़मीदार के बर्तन मे डाल दू तो क्या पता चलने वाला है?" सबने ऐसा ही किया। दूसरे दिन सुबह जब जमीदार साहब दूध बाटने की तैयारी करने लगे और उन्होने एक 'गिलास' से दूध निकाला तो उसमे पानी देख कर बडे हैरान हुए। गौर से मुआइना करने पर उन्होने पाया कि सारे बर्तन मे दूध की जगह पानी ही भरा था। उन्होने यही समझा कि लोगो ने उनके साथ मजाक किया है और इसलिए उन्हे गुस्सा भी आया, पर उन्होने किसी से कुछ कहना मुनासिब न समझा। पर ऐसी बाते फैलते देर नही लगती। बेचारे गरीब किसानो को बहुत बुरा लगा। अमीर और मध्यम श्रेणी के कुछ लोग तुरन्त इस रहस्य का कारण भाप गये। सभी का दिमाग एक ही दशा मे चला और बस दूध का पानी बन गया। मालूम नही, यह कोरा किस्सा ही है या सच्ची घटना, पर दूध की जगह पानी डालने की नीयत

हमारे समाज मे दिन-दिन जोर पकडती जा रही है। आपका ग्वाला बार-बार कहने पर भी दूध मे पानी मिला कर देता है—भले ही आप उसका दूध बन्द कर देने की धमकी दे, और धमकी का असर कुछ हुआ भी तो वह थोडे ही दिन टिकता है। चार दिन की चादनी फिर वही अधेरा पाख। आप जब बाजार मे सामान खरीदने जाते है तो हर-एक दूकानदार ज्यादा से ज्यादा दाम लेकर खराब-से-खराब चीज देना चाहता है और तुर्रा यह कि तौल मे भी चालाकी कर लेता है। शुद्ध घी तो मिलना नामुमकिन-सा हो गया है। आजकल जब अनाज और कपडे की बहुत तगी हो रही है, कुछ लोग धोखा-धडी करने से बाज नही आते। शहरो मे तो अपना पडोसी कौन है यह भी जानने की लोग कोशिश नही करते, फिर सुख दुःख मे हाथ बटाने की बात तो दूर रही। हरेक अपना ही फायदा देखता है। अखबारो मे सनसनीखेज और आकर्षक विज्ञापनो की भरमार रहती है। कभी दवाइया शर्तिया बताई जाती है और अक्सीर साबित न होने पर दाम वापस कर देने का भी आश्वासन या धमकी दी जाती है। पूजीपति मजदूरो का पसीना बहा कर अपने लिए अधिक-से-अधिक आमदनी पैदा करने की ही धुन मे लगे रहते है। यह है आज की समाज-रचना। स्वार्थ का ही बोलबाला है, परमार्थ केवल भावुकता और भोलेपन का चिन्ह बन गया है। जो समाज को धोखा देकर अपना काम बना सके वह 'चलता-पुरजा'। जो दूसरो के फायदे-नुकसान का भी खयाल करे वह 'अव्यवहारिक और मूर्ख।'

पर एक जमाना वह भी था जब खुदी के बजाय समाज की नींव भाई-चारे पर रक्खी हुई थी। हरेक गाव एक विशाल कुटुम्ब की भाति रहता था। एक दूसरे के सुख-दुख मे हाथ बटाना उस समाज का स्वभाव-सा बन गया था। किसी की लडकी की शादी होती तो सब लोग उसे अपने ही घर के विवाह जैसा समझते। लडकी के लिए सभी जरूरी कपडे तैयार करवा देते; उसके नये घर को बसाने के लिए सभी सामग्री इकट्ठी कर दी जाती, विवाह के समय सारा गाव लडकी वाले के यहा मदद के लिए हाजिर रहता। किसी के यहा मौत हो जाती तो सारे गाव के

ऊपर उदासी छा जाती। किसी बच्चे के माँ-बाप मर जाते तो बच्चा अनाथ नही बन जाता था, सारा गाव उसे अपना बच्चा समझ कर उसके लालन-पालन की जिम्मेदारी खुशी से उठा लेता। किसी का घर जल जाता तो उसे स्त्री-बच्चो के साथ सडको पर पडा नही रहना पडता, गाव के अन्य लोग तुरन्त उन्हे अपने यहा शरण देते और मिल कर जला हुआ घर दुबारा खडा कर देते। किसी के खेत मे किसी दिन कोई विशेष काम हुआ तो गावो के लोग उसे भरपूर मदद दे देते। सब लोग शाम को मिलकर आनन्द से उस व्यक्ति के यहा भोजन करते, नाचते, गाते और फिर सुख की नीद सोते। तब अपने-अपने फायदे-नुकसान का ख्याल नही था। सारे गाव की खुशहाली ही सबका उद्देश्य रहता था। इस-लिए धोखेबाजी एक बडा पाप था। अपने घर-वालो को भी कोई धोखा देता है कही ? अपने बच्चो को कोई दूध की जगह पानी पिलाता है क्या ?

पर वह जमाना हमारी बदकिस्मती से अब अतीत के अन्धकार मे चला गया है। उसकी मद गूज कही-कही अलबत्ता अब भी सुनाई देती है।

राजा मीडास का किस्सा आपने सुना ही होगा। उसे सोने का बडा मोह था। सोना इकट्ठा करना ही उसकी एकमात्र आकाक्षा थी। उसे वैसा वरदान भी मिल गया। जिस किसी चीज को वह छूता, वही सोने की हो जाती। उसने अपने महल की दीवारो, मेज, कुर्सियो, पलगो व बर्तनो को छूकर उन्हे स्वर्ण का बना लिया। उसकी खुशी का ठिकाना न रहा, उसकी हसरत और तमन्ना पूरी हुई। पर ज्योही भोजन का कौर मुह मे रखने लगा कि वह भी सोने का हो गया। उसको भारी सदमा पहुचा। यह तो उसने सोचा ही न था कि इस वरदान से उसका खाना भी हराम हो जायगा। इतने मे उसकी नन्ही-सी प्यारी लडकी खेलती हुई आई और उछल कर गोद मे बैठ गई। ज्योही राजा ने उसके सिर पर प्यार-भरा हाथ फेरा, वह सोने की हो गई। उसके दु ख की सीमा न रही। उसका सोने का लालच उसके लिए अभिशाप बन गया। किस्से का अन्त कैसे होता है, ठीक ख्याल नही। पर शायद

जीवन से तग आकर उसने आखीर मे अपने सिर पर हाथ रख कर खुद सोने की मौत मर जाना ही अपने लालच का उचित और स्वाभाविक अत समझा हो।

जो हो, राजा मीडास जैसा ही कुछ हाल हमारे करोडपतियो का हो रहा है, जो धन-सग्रह के लोभ मे अपनी मानवता को खो बैठे है। उन्हे दिन-रात टेलीफोन की घटियो के बिना चैन नही। बाजार के उतार-चढाव के साथ उनकी जिन्दगी भी उतरती-चढती रहती है। वे भोजन भी स्वाद से नही खा सकते, खा भी ले तो पचता नही। उनका कौटुम्बिक जीवन भी शून्य जैसा बन गया है।

जिन्हे हम 'जगली' जातिया कहते है उनके जीवन की ओर भी कभी हमने ध्यान से नजर डाली है ? बहुत-सी जगली जातियो मे आज भी भाई-चारे का व्यवहार कायम है। अगर किसी एक को कोई भोज्य पदार्थ मिल जाता है तो वह अपने झोपडे मे घुस कर चुपचाप औरो की दीठ बचाकर उसका उपयोग नही करता। वह आस-पास के लोगो को तथा पडोसियो को प्रेम से दावत देता है और फिर सब मिलकर सह-भोजन करते है। अगर उसे कोई खाने की चीज जगल मे मिल जाय और आस-पास कोई दूसरे आदमी न हो, तो भी अपने रिवाज के अनुसार वह तीन बार जोर-जोर से आवाज लगाकर लोगो को पुकारेगा और फिर भी किसी के न आने पर उस वस्तु को खायेगा।

पर हम तो ऊची-ऊची दीवारो के अन्दर अलग कमरे मे ही भोजन करना पसन्द करते है, ताकि गरीब की कही नजर न लग जाय। तरह-तरह का भोजन-पदार्थ खाते समय क्या हमे यह विचार आता है कि हमारा एक गरीब पडोसी अपने टूटे-फूटे घर मे शायद खाली पेट सोने की कोशिश कर रहा है और उसके बच्चो को भी आधे पेट ही रह कर सो जाना पडा है?

तब किसको सभ्य कहा जाय—इन 'जगली' मनुष्यो को, जो भाई-चारा निभाना जानते है या हमें, जो अपनी खुशी के नशे में ही दिन-रात छके रहते है?

सच पूछिये तो हम चीटियो और जानवरो से भी गये बीते है। क्या

आपने गौर किया है कि जब आपकी मेज पर चाय पीते वक्त कभी थोडी शक्कर गिर जाती है तब शुरू मे एक-दो चीटिया ही दिखलाई देती है, पर थोडी ही देर मे उनका एक अच्छा-खासा मजमा दीखने लगता है ? जिन लोगो ने उनके जीवन का अध्ययन किया है, उनका कहना है कि चीटिया कोई खाने की चीज मिलने पर दूसरो को एक प्रकार का सन्देश भेज देती हैं और उनके साथी खबर पाकर अमुक दिशा की ओर चल पडते है । यह एक दिशा-सूचक बेतार के तार जैसी बात मालूम पडती है । चीटियो के दो पेट रहते है—एक मे वे खुद खाना पचाती है और दूसरे मे भविष्य के लिए सग्रह रहता है। अगर एक चीटी से दूसरी भूखी चीटी उनके स्टोर से खाना मागे तो वह तुरन्त निकाल कर दे देती है। अगर वह आना-कानी करे और भाई-चारा न निभाना चाहे तो दूसरी चीटिया उसके ऊपर गुस्से मे टूट पडती है और उसकी अच्छी मरम्मत कर देती है। मधुमक्खियो का भी सामूहिक जीवन जानने योग्य है । एक-दूसरे की आवश्यकताए पूरी करना उनकी सामाजिक व्यवस्था का मुख्य नियम है। परिन्दो मे एक ही किस्म की चिडियो का पारस्परिक जीवन बडा अनोखा है। कुछ चिडियो मे ऐसा पाया जाता है कि जब वे अपने भोजन की खोज मे निकलती है, तब जिनके बच्चे नही रहते, वे सबके बच्चो की सार-सभाल के लिए पाछे रह जाती है। एक को जब खाने की चीज मिलती हे तो वह दूसरो को भी आवाज लगा कर बुला लेती हैं । चीलो मे तो यह एक आम कायदा है । सब जमा होने पर पहले बच्चे खाते हैं फिर बूढे और फिर जवान । बूढे पहले खाकर बाद मे समूह के इर्द-गिर्द बैठकर पहरा देते हैं और कोई भी खतरा देखकर फौरन सबको चौकन्ना कर देते है।

इसी तरह का भाई-चारा पशुओ मे भी पाया जाता है। जब जंगल मे किसी गाय पर कोई हिंसक पशु हमला करता है तब बाकी सब अपनी जान बचाकर भाग खडी नही होती बल्कि उस जगली जानवर को सब मिलकर घेर लेती है और उस पर टूट पडती हैं । जब कोई शिकारी एक बदर मार देता है तो दूसरे बदर चीख कर भागते नही, उस मरे भाई के चारो तरफ जमा होकर मानो अफसोस जाहिर

करते हैं। जगली कुत्तो, घोडों, हाथियो इत्यादि का सामूहिक जीवन भी कुछ इसी प्रकार का रहता है।

मनुष्य सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी गिना जाता है। उसे अपनी तहजीब पर नाज़ है। पर स्वार्थ मे डूबा मानव-संसार तहजीबयाफ्ता है या ये चीटिया, परिन्दे, जानवर और जगली जातिया ?

एक कहानी शायद आपने सुनी हो—एक गरीब की। उसने किसी जादूगर की खुशामद करके एक मत्र हासिल कर लिया, जिसका उच्चारण करके वह जो चीज चाहे माग सकता था। उसने पहले-पहल शराब की ही फरमाइश की। बस, ऊचे दर्जे की ज़ायकेदार शराब की धार उसके कमरे ही मे गिरने लग गई। उसने जल्द ही अपनी सब खाली बोतलें भर ली, फिर सब बर्तन भी भर लिये। पर शराब की धार तो अटूट था। आखिर उसके पास कोई खाली बर्तन न बचा और उसका कमरा भी शराब से भरने लगा। तब तो वह घबडाने लगा। पर बेचारा क्या करता ! उसने इष्ट वस्तु मागने का तो मत्र सीख लिया था, परन्तु उसे इन्कार करने का नहीं। फिर क्या था ? उसका सारा कमरा लबालब भरता गया और वह बेचारा शराबी की बाढ मे ही डूब कर मर गया।

किस्सा तो कोई काल्पनिक ही है। पर कल्पना है बड़े मार्के की और वह वर्तमान दुनिया पर लागू भी होती है। पूंजीवादियों ने स्वार्थ और धन के लोभ मे यत्र का मत्र सीखा। उनकी उत्पत्ति दिन दूनी रात चौगुनी बढ रही है। पर उनका माल खप नहीं रहा है। उन्होंने अपना व्यापार बढाने की भरसक कोशिश की। साम्राज्य स्थापित किये पर उत्पादन बढता ही जाता है और खरीदने वालो की सख्या घटती जा रही है। उनका आपस मे सघर्ष होना स्वाभाविक था। बस भयकर युद्ध छिड गया और वे खून की बाढ मे बह कर डूब रहे हैं। फिर भी फायदे और धन के नशे मे उनकी सद्बुद्धि अभी तक नहीं लौटी है।

खुदी ही की शराब के नशे मे आज आदमी की जिन्दगी सबसे सस्ती बन गई है। एक तरफ धनके पहाड खड़े हो गये है और दूसरी तरफ लाखो मे लाखों नौजवान आपस मे लडभिड़ कर खून की नदिया

बहा रहे हैं। यत्र के मत्र ने भाईचारे का गला घोट कर दुनिया को स्वार्थ के ऐसे समुद्र मे ढकेल दिया जिसकी लहरो की चपेट से निकलना नामुमकिन-सा हो रहा है। पर अगर यत्र का दूसरा मत्र भी सीख लिया जाय, अगर उसके गुलाम वनने के वजाय उसे कावू मे रक्खा जाय, तो फिर दुनिया फूल-फल सकती है, फिर भाई-चारा जगाया जा सकता है और खून की नदियो की जगह दूध और शहद की नदिया वहाई जा सकती है।

वह मत्र है "भाई-चारा !" स्वार्थ की जगह सहकार्य और प्रेम। अपने-अपने लाभ करने के वजाय समाज का हित। शख्सी जिन्दगी की जगह जमात की जिन्दगी।

इस मत्र के सीखने और उसे अमल मे लाने मे ही दुनिया की जिन्दगी है; नही तो वस खुदी की शराव मे डूब कर मरना तय है।

: ८ :

क्या दिन-भर हजामत बनायेंगे ?

कई वर्ष पहले की बात है। गाधीजी वर्धा मे खादी और ग्रामोद्योग के महत्त्व पर भाषण दे रहे थे। वे समझा रहे थे कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आजीविका के लिए दिन मे आठ घटे परिश्रम करना चाहिए। यह श्रम उसके शारीरिक और मानसिक विकास के लिए जरूरी है। एक सज्जन बीच ही मे खडे होकर पूछने लगे—

"बापूजी, अगर चार ही घटे। काम करें तो क्या हर्ज है ? मनुष्य को कुछ फुरसत भी तो मिलनी चाहिए।"

"दिन-रात मिल कर चौबीस घटे होते हैं न ?" गाधीजी ने हस कर पूछा।

"जीहा।"

"आप आठ घटे सोते होगे ?"

"जी नही, छ घटे की नीद मेरे लिए काफी है !"

"बहुत अच्छा। तो फिर बचे अठारह घटे। उसमे से सिर्फ चार घटे आप निर्वाह के लिए मेहनत करेगे। तो फिर कितने घटे बचे ? जरा गणित कीजिए !" गाधीजी ने मुस्करा कर कहा।

"चौदह घटे !"

"तो इन चौदह घटो का आप क्या करेंगे ? क्या दिन भर हजामत बनायेंगे ?"

सब लोग हस पडे। वे सज्जन कुछ कहना तो और भी चाहते थे, पर उन्होने चुपचाप बैठ जाना ही मुनासिब समझा।

गाधीजी ने किया तो मजाक ही था, पर उनके प्रश्न के पीछे दुनिया की एक जटिल समस्या छिपी हुई है। इस यत्र युग मे मशीनें बडी तेजी से मनुष्य का काम कर देती है। इन्सान को अपने हाथो मे

बहुत कम मेहनत करने की जरूरत पडती है। अपनी पूजी के बल पर अमीर लोग एक उगली हिलाये बिना करोडो रुपए कमाते है और आराम-चैन करते हैं। पर मशीनो के साथ काम करते-करते खुद मशीन बन जाने वाले बेचारे मजदूर उनके लिए पसीना बहाते है और फिर भी उन्हे गरीबी मे सारी जिन्दगी गुजारनी पडती है। मशीनो का भद्दा शोर-गुल और उनका वेग उन्हे थोडे घटो मे ही थका देता है। इसलिए वे माग पेश करते है कि उन्हे कम घटे काम दिया जाय। अपने अवकाश का समय वे भी अमीरो की तरह नाच-गान, सिनेमा-थियेटर मे बिताने की चाह रखते है।

अब जरा अमीरो की जिन्दगी की ओर भी एक नजर डालिये। उनके खजाने पर धन की वर्षा दिन-रात होती है। फिर भी उन्हे चैन नही, सतोष नही। अपना माल खपाने के लिए वे नए देश खोजते है, आपस मे लडते है और जरूरत पडने पर युद्ध भी छिड़वा देते है, जिसमे लाखो नौजवानो का खून पानी की तरह बह जाता है। पर इन करोडपतियो को तो हाथ-पैर हिलाने की भी आवश्यकता नही। उनका सारा कार-बार उनके मुनीम-गुमाश्ते करते रहते है। आखिर उनका वक्त कटे कैसे ? रात को देर तक नाच-तमाशे व शराबखोरी के बाद सुबह देर से उठना। छोटी हाजिरी पलग पर पडे-पडे मिल जाती है। आराम से हजामत बनाना, तबीयत हुई तो नहाकर, नही तो सिर्फ मुह-हाथ धोकर ड्राइग-रूम मे बैठ जाना और यार-दोस्तो से गप-शप करना। चाय और अखबार भी हाजिर हो जाते है। सुबह बैठ कर शाम का कार्यक्रम बनाना, चाय-पार्टी, डिनर वगैरा का। दोपहर मे कुछ समय के लिए अपने आफिस मे हो आना, फिर तीसरे पहर की चाय, ब्रिज, टेनिस। शाम को एक बार फिर हजामत, नाच, सिनेमा आदि मे जाने के पहले। बस, इसी तरह वे कुछ-न-कुछ करते रहने मे ही सुबह से रात तक मशगूल रहते है। हा, कुछ अपवाद तो जरूर होते है, पर वे अपवाद नियम को ही सिद्ध करते है।

लेकिन क्या ये अमीर इतनी फुरसत पाकर भी सुखी है ? दिन भर खाते-पीते है, पर शारीरिक श्रम न होने से उनका हाजमा हमेशा खराब

रहता है और टानिकों के सहारे उनकी जिन्दगी की गाडी चलती है। यूरोप और अमरीका मे जाकर देखिए इन धनिको का जीवन ! आपको उनके चेहरे पर परेशानी, थकान और व्याकुलता ही नजर आयेगी। उनके जीवन मे रस नही, जायका नही !

एक गरीब किसान ने शकरजी की तपस्या की। उसे वरदान भी मिल गया। शकरजी जरा जल्द ही प्रसन्न हो जाते है। उस किसान की सेवा मे एक भूत दिया गया। बात निकलने की देर नही कि चीज हाजिर। जो चाहो सो मिल सकता था। पर एक बेढब शर्त भी थी। अगर उस भूत को कोई काम न बताया जाय तो वह किसान को ही हडप कर जायगा।

भूत-नौकर से फरमाइशे हुई—महल की, सैकडो नौकरो की, अच्छी स्वादिष्ट मिठाइयो की, रग-बिरगी पोशाको की। फिर हाथ जोडकर भूत ने पूछा, "और ?"

"ठहरो, सोचकर बताता हू।" किसान बोला।

पर शकरजी की शर्त के अनुसार वह ठहर नही सकता था। किसान को और तो कुछ न सूझा, वह घबडा कर बोला, "मुझे शकरजी के पास ले चलो।"

"इस भूत से जान बचाइए।" किसान हाथ जोड कर गिडगिडाने लगा। "महाराज, मुझे यह शान-शौकत कुछ नही चाहिए। मै फिर किसान बनना ही पसन्द करूगा।"

"एवमस्तु।" शकरजी ने कहा।

बेचारे किसान के जी-मे-जी आया। जान बची, लाखो पाए। शकरजी का यह भूत कोरी कल्पना नही है। यह भूत तो हम सबके अन्दर रहता है और अगर उसे भरपूर काम न दिया जाय तो वह हमारा जीवन ही हराम कर डालता है। यह सर्वव्यापी भूत हमारा मन है, जिसको वश में रखने के लिए मुनि और सत भी सदा प्रयत्नशील रहते है। मेरे ख्याल मे अगर किसी को कडी सजा देनी हो तो उसे कुछ भी काम न देकर सिर्फ बैठाए रखना चाहिए। बर्नार्ड शॉ ने ठीक ही कहा है, "अनन्त आराम ही नरक की सबसे अच्छी व्याख्या है।"

यूनान के टेन्टेलस की कथा शायद आपको मालूम हो। उसे देवो का एक भयंकर शाप था। उसे एक पानी के तालाब मे खडा कर दिया गया था। जब उसे प्यास लगती और वह प्यास बुझाने के लिए अपना सिर झुकाता तो पानी की सतह नीची हो जाती और टेन्टेलस प्यासा ही रह जाता। धनिकों का भी यही हाल है। उनके चारो ओर सभी प्रकार की भोग-सामग्री रहती है, पर उनकी विषय-वासना तृप्त नही होती। उनकी हालत उस प्यासे नाविक के समान है जो समुद्र मे अपनी किश्ती पर जा रहा है। उसके चौगिर्द पानी-ही-पानी है, पर नमकीन होने के कारण उसकी प्यास नही बुझ सकती। जीवन की मिठास श्रम मे है, विश्राम मे नही। जिन्दगी का जायका कडी मेहनत में है, आराम-चैन में नही।

सत कबीर एक मामूली जुलाहे थे। दिन भर करघे पर कपडा बुनते और उसी से अपना निर्वाह करते। पर सूत बुनने के साथ-साथ उनके जीवन के आनन्द के तार भी बुन जाते थे। उनके आह्लाद का क्या ठिकाना ! उनका जीवन परम शान्ति की एक विमल हिलोर बन चुका था—

'सुख-दुख से कोइ परे परम-पद,
तेहि पद रहा समाई।'

जो लोग कम घण्टे काम करके ज्यादा फुरसत चाहते है उनकी दलील है कि वे अवकाश का उपयोग कला, साहित्य और विज्ञान के निर्माण मे करेंगे। किन्तु उन्होने शायद दुनिया के बडे-बडे कलाकारो, साहित्यिको और वैज्ञानिको के जीवन-चरित नही पढे है। पहले विज्ञान को ही लीजिए। बहुत से आविष्कारक मजदूर ही रहे हैं, जो अपने हाथ से काम करते थे, केवल अपनी प्रयोगशाला मे बैठ कर मजदूरो पर हुक्म नही चलाते थे। गलीलियो, जिसने यूरोप मे पहली बार यह सिद्ध किया कि पृथ्वी सूर्य के चारो ओर घूमती है, हकीमी का पेशा करता था। आकाश के निरीक्षण के लिए अपनी दूरबीन खुद बनाता था, उनके काच स्वय घडता था। स्टीफेंसन, जिसने सबसे पहले एजिन बनाया, एक साधारण मजदूर था। यही हाल वाट और आर्क-राइट का था जिन्होंने

कई तरह की कलें ईजाद की। अंग्रेजी साहित्यकारों में आदिकवि चौसर बहुत दिनों तक एक सिपाही रहा, वेकन एक प्रख्यात और व्यस्त वकील था, सर वाल्टर रेले सिपाही और नाविक रहा, शेक्सपियर शुरू में थियेटर आने वालों के घोड़े सँभालने का धन्धा करता था। डा० जॉनसन का जीवन तो एक अनन्त संघर्ष ही था। इटली का अमर कवि दाँते बहुत समय तक दवाइयां बेचने का रोजगार करता था। फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक वॉल्टेयर का आदर्श था—"हमेशा काम में लगे रहना।" संसार के प्रसिद्ध चित्रकारों, शिल्पियों व संगीतज्ञों की जिन्दगी इसी तरह की रही है। वे अपने व्यस्त और संघर्ष से भरे जीवन के अवकाश की कुछ घड़ियों का सदुपयोग करके ऊंचे-से-ऊंचे कलाकार बन गये। श्रम और संघर्ष से ही मनुष्य की सभी शक्तियों का विकास होता है, चैन की बंसी बजा कर नहीं।

पर मुझे गलत न समझें। मेरा यह मतलब नहीं कि हमें अवकाश की बिलकुल ही जरूरत नहीं। थोड़ी फुरसत तो हमारे मन और शरीर को आराम देने के लिए आवश्यक है। पर आज की दुनिया में काम और श्रम को अभिशाप मान कर, अवकाश को वरदान मान लेने का जो रवैया है, मैं उसके खिलाफ अपनी आवाज उठाना चाहता हूं। बाइबिल के अनुसार "अपने ललाट के पसीने से रोटी खाना" ईश्वर का इंसान को शाप है, पर हम भूल जाते हैं कि वह भगवान् का मनुष्य को सबसे बड़ा वरदान भी है। कार्लाइल तो श्रम को ही परमेश्वर की पूजा मानता था।

और सच बात तो यह है कि जो लोग अधिक अवकाश की मांग पेश करते हैं वे काम से घृणा नहीं करते, बल्कि जिस तरह का काम आज करना पड़ता है उसमें उन्हें दिलचस्पी नहीं है। एक मिल मजदूर अपने श्रम में क्योंकर रस ले सकता है? उसे तो बस कलों की तरह कलों की देख-रेख करना और अपनी मजदूरी प्राप्त करना है। इसके अलावा न उसे कोई जानकारी है, न जिज्ञासा। मशीनों की कर्कश आवाज से, गर्मी से, मिल की दूषित हवा से वह घबरा उठता है। रोजाना एक-सा काम करते रहने से वह व्याकुल हो जाता है, उसकी नसें तनने लगती हैं, उसका

दिमाग चक्कर खाने लगता है, उसका दिल नीरस बनने लगता है। फिर वह बेचारा आफत का मारा कम घण्टे काम करने की और अधिक वेतन की माग पेश न करे, तो क्या करे ?

जब लोग अपने घर मे या अपने गाव की छोटी-सी दूकान मे काम करते थे, उन्हे अपनी छोटीसी मशीन-चर्खा या करघा—का सारा भेद मालूम रहता था। जो चीज वे तैयार करते थे उसकी पूरी जिम्मेवारी उनकी होती थी। अपने माल की उत्पत्ति मे उन्हे आनन्द और सतोष का अनुभव होता था। अपने परिश्रमालय मे वे खुली हवा मे शान्ति से काम करते थे—बारह-बारह घण्टे, चौदह-चौदह घण्टे—फिर भी ऊबते न थे। वे तन्दुरुस्त थे, आजाद थे, कलाकार थे। उनका दिल भाईचारे से रसीला बना रहता था। उनका दिमाग ताजा व तेज रहता था। वे अपनी छोटी, स्वच्छ कुटी मे आराम से जिन्दगी बिताते और काम करते-करते अपने सिरजनहार की भक्ति के भजन भी गुनगुनाते रहते थे।

लेकिन आज का बेचारा मजदूर ज्यादा धन के लालच मे गाव छोड कर शहर गया, पर न उसे मन की शान्ति है, न वह खुशहाल ही है। जो दो पैसे ज्यादा कमाता है उसे अपनी थकान और नीरस जीवन को भूलने के लिए शराब वगैरा पर न्योछावर कर देता है। उसे न माया मिली, न राम, न दीन और न दुनिया।

मै नही चाहता कि हम ज्ञान-विज्ञान की उन्नति का फायदा न उठावे। चीन जापान की तरह बिजली की ताकत से छोटी उपयोगी मशीनो का आविष्कार करके अपनी पैदाइश बढाने की कोशिश करनी चाहिए। रूस की तरह गावो मे सहकारी खेती और सहकारी उद्योग शुरू करना उचित ही है। लेकिन फुरसत के लालच मे, मोह मे, आवश्यकता से अधिक कल-पुर्जो का प्रयोग करना भी उचित नही। उससे बेकारी बढेगी। काम रस-हीन और थकाने वाला बनेगा। सुस्ती जागेगी, ऐश-आराम की वृत्ति उमडेगी। आठ घण्टे सोकर और आठ घण्टे आजीविका के लिए मेहनत करके भी आठ घण्टे बच रहते है। इन आठ घण्टो मे हम जो चाहे कर सकते हैं। चौबीस घण्टो मे आठ घण्टे की फुरसत कम नही है—तैतीस

फीसदी, एक तिहाई ।

आज अमीरों को अवकाश-ही-अवकाश है और गरीबों को काम-ही-काम। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि समाज की वर्तमान आर्थिक रचना जड़ से बदली जाय । तभी सबको श्रम और विश्राम उचित मात्रा में मिल सकेंगे । फिर अवकाश का मोह नहीं रहेगा, दिन भर हजामत बनाते रहने की नौबत भी नहीं आयगी ।

: ९ :

डाक्टर गांधी

"बापूजी, आप तो अब पूरे डाक्टर ही बन गये हैं।" मैंने मुस्कराते हुए कहा।

गाधीजी जोर से हस पड़े, "तुम्हे नही मालूम कि मैंने इगलैंड में डाक्टर बनने का करीब-करीब निश्चय ही कर लिया था।" बापूजी कहने लगे. "लेकिन जीवो की हत्या को देख कर मेरा मन घबरा उठा। इस तरह की हिंसा मेरे लिए नामुमकिन थी।"

गाधीजी दुनिया के सामने महात्मा के रूप मे ही पूजे जाते थे। किन्तु 'महात्मा गाधी' के बजाय उन्हे 'मानव गाधी' कहना ज्यादा ठीक होगा। बापूजी 'महात्मा' शब्द की बातचीत मे प्राय हसी उडाया करते थे। गाधीजी की मानवता रोगियो की सेवा के रूप मे विशेष कर प्रकट होती थी। रोगियो की देख-भाल मे उनका कितना अधिक समय जाता था इसकी कल्पना बहुत कम लोगो को होगी। सुबह-शाम टहलने के समय तो वे बीमारो की ओर चक्कर लगाते ही थे, किन्तु कभी-कभी तो वे दिन मे भी सेवा-शुश्रूषा मे कई घटे बिता देते थे। सारे हिन्दुस्तान की बागडोर उनके हाथ मे होने पर भी वे अपने डाक्टरी विभाग मे इतना समय कैसे दे सकते थे, यह आश्चर्य की बात अवश्य है। किन्तु जो लोग गाधीजी के निकट रहते थे, उन्हे इसका रहस्य मालूम होता जाता था।

बापूजी ने तो सेवा को ही अपना धर्म बनाया था। गरीबो और दुखियो की भूख और दर्द मे ही उन्हे परमेश्वर के दर्शन की झलक मिलती थी। इसीलिए उनके इष्टदेव 'दरिद्रनारायण' व 'रोगीनारायण' थे। इनकी सेवा करने मे गाधीजी को सच्चा सतोष और आनन्द मिलता था, उनके दैनिक कार्य मे कोई बाधा नही आती थी। राजनैतिक कार्यो की

झंझटो के बाद जब बापूजी रोगियो की ओर जाते थे तो उनका दिमाग फिर ताजा और प्रफुल्लित हो जाता था, उन्हे आन्तरिक शान्ति मिल जाती थी, क्योंकि उन्हे प्रत्यक्ष सेवा का मौका मिलता था।

बापूजी का सारा जीवन प्रयोगमय था। उनके डाक्टरी प्रयोग चलते ही रहते थे, खास तौर से भोजन के। कभी खाना ज्यादातर कच्चा, तो कभी उबला हुआ, कभी फलों का रस-ही-रस, तो कभी दूध-ही-दूध कुछ इसी तरह के प्रयोग आश्रम मे चलते रहते थे।

बापूजी कई रोगो के सिद्धहस्त चिकित्सक बन गये थे। विषमज्वर की बीमारी तो सेवाग्राम मे काफी होती थी, लेकिन बापूजी के इलाज मे हमेशा सफलता ही रही। मिट्टी की पट्टी सिर पर और पेट पर, टबबाथ, भोजन-क्रम इत्यादि से वे रोगियों को अच्छा कर देते थे। खून के दबाव की अक्सीर दवा भी बापूजी ने खोज निकाली थी। वह थी भोजन मे परहेज, मालिश और टहलना।

महाराष्ट्र के विद्वान् परचुरे शास्त्री बहुत वर्षों से महारोग मे पीड़ित थे। उन्होने सभी तरह के इलाज किये, लेकिन कुछ लाभ न हुआ। आखिर सारी आशाए छोड वे एक दिन सेवाग्राम आ पहुंचे। सडक के किनारे पडे थे—इस आकाक्षा मे कि बापू के समीप ही अन्तिम सास ले सकें। जब गाधीजी को उनके बारे मे पता चला तो उन्होने शास्त्रीजी के लिए एक अलग झोपडी बनवा दी और उनका इलाज शुरूकर दिया। उनकी मालिश खुद करते थे। उपवास से शास्त्रीजी को काफी लाभ पहुचा। वे टहलते थे, कातते थे गीता और सस्कृत पढाते थे। बापूजी ब्याह-शादियों मे उनसे पढिताई भी करा लेते थे। गाधीजी रोज सुबह टहलने के बाद शास्त्रीजी के पास एक बार अवश्य हो आते थे।

बापूजी शरीर और दिमाग, दोनों के डाक्टर थे। जिन लोगो का शरीर और मन इतना कमजोर था कि उनसे कोई काम नही लिया जा सकता, उन लोगो को भी "डाक्टर" गाधी ठीक करके कुछ-न-कुछ कार्य करने लायक बना ही लेते थे। जिस व्यक्ति को सारी दुनिया नालायक करार देकर ठुकरा दे, उससे भी काम ले लेने की शक्ति बापूजी मे थी। जो लोग बाहर से सेवाग्राम आश्रम देखने आते थे वे वहा मे रोगी लोगों

को देख कर हसते थे और गाधीजी का मजाक भी उडाते थे। वे समझते थे कि गाधीजी को योग्य कार्यकर्ता और अनुयायी मिलते ही नही हैं। चलते-फिरते यात्री गहराई मे जाकर सोचें भी कैसे ? उन्हे बापूजी के ही शब्दो मे, 'शभु मेले' का रहस्य क्या मालूम ? जिन्हे दुनिया मे कही भी सहारा नही उन्हे बापूजी ही आश्रय दे सकते थे।

बापूजी सफाई की ओर भी पूरा ध्यान देते थे। पाखाने साफ करने की 'कला' और 'विज्ञान' पर वे घटो चर्चा करते थे। कई वर्ष पहले सेवाग्राम आश्रम मे 'सैप्टिक टैंक' का प्रयोग भी किया गया था। इस विषय पर बापूजी ने कई घटे बातचीत की। लोग सोचते होगे, इतना बडा नता इन छोटी-छोटी बातो मे घटे क्यो बरबाद करता था ? लेकिन उन्हे यह पता नही कि गाधीजी इन छोटी-छोटी चीजो को ही महत्व देकर इतने बडे बन सके थे। उनकी यही विशेषता थी। उनके लिए कोई भी काम नीचा नही था, कोई भी चीज़ छोटी नही थी।

जब आश्रम का कोई कार्यकर्त्ता—मामूली-से-मामूली व्यक्ति—अधिक बीमार हो जाता था तो बापूजी ही डाक्टर, नर्स, नौकर और मालिश करनेवाले बन जाते थे। वे ही रोगी को भोजन-सम्बन्धी विस्तृत हिदायतें देते थे। यदि उनसे कोई कहे—"बापूजी, आपके पास बहुत काम है, रहने दीजिए', तो तुरन्त उत्तर मिल जाता था—"क्या मैं आदमी नही हू ? जब मेरा पडोसी और मित्र पीडित है तो मैं उसकी परवा न करके क्या सेवा करू ?" सचमुच पडौसी धर्म ही सच्चा धर्म है। अपने नजदीक रहने वाले लोगो की सेवा न करके देश और ससार की सेवा करने की योजनाए बनाना निरर्थक है।

कुछ साल पहले जब नागपुर-विश्वविद्यालय ने गाधीजी को 'डाक्टरेट' दी थी, उस समय 'डाक्टर गाधी' शब्द की कल्पना ही विचित्र लगती थी। किन्तु बापू को "डाक्टर" कहने मे मुझे जरा भी सकोच नही होता था। बापूजी का महात्मापन उनकी मानवता मे ही था, और मानवता का इज़हार, उनकी डाक्टरी द्वारा सबसे सुन्दर रूप मे होता था !

: १० :

खोटा पैसा

कुछ वर्ष पहले काशी के विश्वनाथ-मदिर मे जाने का मौका मिला था। यूँ तो मुझे पूजा-पाठ मे कोई श्रद्धा नहीं है और न मदिरो के देवों के दर्शन करने की लालसा ही रहती है। मैं तो 'मानुष रूप' को ही ज्यादा महत्व देता हू और मानव-धर्म को ठीक तौर से निभाना ही सबसे बडी साधना मानता हू। पर पुराने मदिरो की कला को, बनावट व व्यवस्था को देखने के ख्याल से कभी-कभी अदर घुस आता हू। विश्वनाथ मदिर की मूर्ति के सामने के चौक मे मैने देखा कि फर्श में पैसे लगे हुए है जिनके ऊपर दर्शको व भक्तो के पैर निरन्तर पडते रहते है। शायद कुछ भक्त लोग ही इन पैसो को लगवा देते है और मन मे यह सतोष कर लेते है कि इन पर सन्त व साधुओं के पवित्र चरण-स्पर्श से उनका धन व वे खुद भी उतना पुण्य अवश्य कमा लेगे कि स्वर्ग मे उनके लिए भी एक कोना 'रिजर्व' हो सके। भगवान् की मूर्ति पर भी पैसो की बौछार होती ही रहती है। पर एक मित्र से, जिन्हे मदिरो का काफी अनुभव था, मालूम हुआ कि जो पैसे इस तरह भगवान् के मंदिर मे अर्पित किये जाते है, उनमे से काफी खोटे निकलते है। भीड मे कौन देखता है कि पैसा खोटा है या खरा। बेचारे पुजारी को भी फुरसत कहाँ, और देख भी ले तो वह इतनी भीड मे किससे झगड़ा करे! भगवान् तो आखिर एक पत्थर की प्रतिमा ही है। वे देख ही क्या सकते है? उन्हे तो पैसे की दरकार ही क्या है? भगवान् की दृष्टि मे सोना, लोहा और मिट्टी सब समान है। वे तो "पत्र, पुष्प, फलं, तोयं" सबकुछ खुशी से स्वीकार करते ही है न? शायद कुछ इसी तरह के विचारो से अपने दिल को समझा कर या धोखा देकर 'भक्तजन' खोटे पैसे चढा कर, प्रसाद लेकर और मूर्ति मे बसता हुआ

मदिर का पानी आखो से स्पर्श कर बडे सतोप के साथ चले जाते है।

हिन्दी मे एक कहावत है—"मराऊ गाय ब्राह्मण को दान।" यह भी खोटे पैसे की वृत्ति है। कोई भी चीज बिगड जाने पर और हमारे काम की न रहने पर हमे दान की बात झट याद हो आती है। गाय अब बुड्ढी हो गई और दूध नही देती है तो किसी ब्राह्मण महाराज को दान दे देने से बढकर उसका और क्या उपयोग हो सकता है? कपड़े पहनते-पहनते जब रिझ जाते है तब उन्हे बडी शान से भिखारियो व नौकरो को भेंट किया जाता है। घर मे कुछ फल आये और कई दिन के बाद उनमे से कुछ सडने लगे तो नौकरो का ख्याल आता है और वे सडे फल उन्हे बडा प्रेम दिखला कर अर्पण कर दिये जाते है। बेचारे गरीब भिखमगो को भी कुछ लोग खोटा पैसा फेक देने मे कोई शर्म महसूस नही करते। पूज्य गाधीजी को प्रार्थना के बाद जो पैसे 'हरि-जन'-सेवा के लिए दिये जाते थे उनमे भी काफी खोटे सिक्के रहते थे।

पर क्या हमारी ये कारगुजारिया अपनी आत्मा के साथ निर्दय और करुण खिलवाड नही है? क्या हम अपने को इतना चतुर और चालाक समझते है कि परमेश्वर को भी मदिरो व तीर्थों मे जाकर धोखा दे सके? 'अन्तरयामी' भगवान् की प्रार्थना तो हम करते है, पर क्या यह समझकर कि वह हमारी 'अन्तर-भावना' नही जान सकता? अगर ईश्वर हमारे खोटे पैसो को खरा ही समझता है और हमारे कपट को नही जान सकता तो ऐसे असमर्थ और भोले परमेश्वर की पूजा करने से लाभ ही क्या?

प्रश्न खोटे पैसे का नही, खरी-खोटी वृत्ति का है। भगवान् को हम दुनिया की तुच्छ-से-तुच्छ वस्तु भेट करे, पर सच्चे दिल और पवित्र श्रद्धा के साथ, तो ईश्वर के नजदीक वह बडी-से-बड़ी भेट होगी। ईसा मसीह जब एक बार गिरजे मे अपना उपदेश देने के बाद शुभ कार्यों के लिए चदा एकत्र करने लगे तो धनी भक्तजनो ने काफी भारी-भारी रकमें उनके डब्बे मे डाली और अपने को धन्य समझा। पर चन्दा-सग्रह खत्म होने के बाद ईसा ने मजमे से पूछा—

"आप जानते है, चदे की सबसे बडी रकम किसने दी है?" बत्ती

लोग, जिन्होने मोटी रकमे दान दी थी, इधर-उधर उत्सुकता-पूर्वक देखने लगे कि उनकी ओर कोई इशारा कर रहा है कि नही। उनकी ओर लोगो की नजर तो थी, पर ईसा की नही। थोडी देर तक स्तब्ध बैठे रहे। वे इसी इंतजार मे थे कि ईसामसीह की दीठ किसकी ओर मुडे ! अंत मे ईसा ने सबसे पीछे चुपचाप कोने में बैठी एक गरीब बुढिया की ओर इशारा किया और बोले—

"वह देखो सबसे बडी रकम देने वाली बुढिया।"

सब लोग पीछे घूमकर आश्चर्य-चकित होकर देखने लगे। यह बुढिया ! पर फौरन ही ईसू ने कहा—

"ताज्जुब की कोई बात नही है। उसकी सारी जायदाद कुल एक पैसा ही थी; वही उसने मुझे दान दे दी है।" बुढिया ने अपना सब-कुछ श्रद्धा के साथ, अपूर्व उदारता के साथ, खुले हाथो अर्पण कर दिया। उसका पैसा खोटा भी होता तो उसके दान के गौरव मे कोई फर्क न पडता।

कठोपनिषद् मे नचिकेता यमराज से कहता है, "महाराज, मुझे धन नही चाहिए, क्योकि धन से मनुष्य की तृप्ति नही होती "न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य.।" मदिरो और तीर्थों मे जाने वाले भक्तो को नचि-केता का यह वाक्य याद रखना चाहिए ! जब धन से मनुष्य की तृप्ति नही हो सकती तब भगवान् को उससे कैसे सतोष मिल सकता है ? मदिरो मे कुछ दान देना केवल हमारी त्याग-भावना को जगाने का साधन है। देव हमारे धन के भूखे नही हैं। फिर यदि हम खोटे पैसे चढाने लगें तो हमारा त्याग हुआ या पाखड ?

धनी लोग अपने धन से ईश्वर को भी लुभा कर रिश्वत देना चाहते हैं। केवल दान-धर्म करके स्वर्ग मे एक अच्छा स्थान रिज़र्व करा देना चाहते हैं। यूरोप के मध्यकालीन पादरी धनी लोगो से बडी रकमे लेकर उन्हे एक सर्टिफिकेट या प्रमाण-पत्र देते थे, जिसमे वे खुदा से सिफारिश कर देते थे कि अमुक व्यक्ति ने अमुक रकम दान दी है, इस-लिए इसे नरक मे से न गुजरना पडे। सुना है, आज भी कई लोग आकाश मे कुछ इसी तरह की चिट्ठिया मोटी रकमे देकर प्राप्त करते है।

कैसा है यह धनिको का भोलापन और मूर्खता ! वे धन से ईश्वर को जीतना चाहते है, पर पडे-पुजारी उल्टा उन्ही पर हाथ साफ करके अपना उल्लू सीधा कर लेते है, और यह वाजिब ही है। धनी लोग गरीबो को लूट कर अपनी जेब भरते हैं, फिर पुजारी, महत, पादरी उनकी जेबो पर उन्ही की रजामदी से कैची क्यो न चलाये ? लूट का धन तो लूट ही मे चला जाना चाहिए। अफसोस इतना ही है कि वह धन गरीबो के पास वापस न पहुच कर शोषको के पास ही रह जाता है। सिर्फ जेबें बदलती रहती है।

ईसा मसीह से हमे एक बात और सीखनी है। वे जब एक वार किसी गिर्जे मे गये तो उन्होने दरवाजे पर कुछ लोगो को व्यापार करते देखा— वे सिक्के बदलने का धन्धा कर रहे थे। अपनी दुकान लगाकर बैठे थे। ईसा ने उन्हे जोर से डाटा और कहा, "तुम मेरे पिता का घर नापाक कर रहे हो। यहा से अपनी दूकान उठाकर इसी वक्त चले जाओ !" और व्यापारियो को फौरन ही अपनी दूकान समेट कर भाग जाना पडा। कुछ इसी तरह का व्यापार हमारे सैकडो मदिरो मे चलता रहा, यहा तक कि द्वारकापुरी जैसे महान तीर्थ मे लोग उचित शुल्क देकर भगवान् की पूजा भी अपने हाथ से कर सकते है और बेचारे गरीब, जिनके पास शुल्क देने को धन नही है, भगवान् की मूर्ति के नजदीक भी नही जा सकते। जो लोग धन चढाते है उन्हे तो पडे-पुजारी बडे आदर से दर्शन करा देते है। लेकिन गरीब भक्तो की भगवान् के मदिर मे भी पूछ नही। क्या यह भगवान् का अपमान नही है जो अपने दीन भक्तो के भक्त माने जाते है ? ऐसे धनी लोगो की सख्या, जो नि.स्वार्थ भाव से बडे तीर्थ-मदिरो की मरम्मत तथा अन्य आवश्यक खर्च के लिए खुले हाथो दान देने को तैयार हैं, आज भी हमारी खुशकिस्मती से कम नही है और अगर धन की कमी से हमारे देश के बहुत-से मदिर गिर भी पडे तो मुझे कोई भी अफसोस नही होगा। ईश्वर हमारे बनाये हुए मदिरो के अन्दर ही नही रहता। जिस भक्त के दिल मे अगाध प्रेम और अटूट श्रद्धा है, उसके हृदय से बढकर और कौन-सा मदिर अधिक पवित्र हो सकता है ? हमे तो सत कबीर की "सहज समाधि"

ही भली लगती है—

"जहँ जहँ डोलौं सो परिकरमा,
जो कछु करहुँ सो सेवा।
जब सोवो तब करौं दंडवत,
पूजो और न देवा।"

अर्थशास्त्र का 'ग्रेशम-नियम' है कि खोटे सिक्के खरे सिक्को को चलन मे से हटा देते है और यह तो हमारे रोजाना के तजुर्बे की बात है ही। पर आधुनिक अर्थशास्त्र की बदौलत बडे मार्के की चीज तो यह हो रही है कि जीवन-व्यवहार मे खोटी वृत्ति खरी वृत्ति को धक्के मार-मार कर हटा रही है। आज की दुनिया का खुदा पैसा है, पैसे के सामने नीति, दया और धर्म कोई हस्ती नही रखते। लोगो को अपने नाम व कीर्ति की परवा नही रही है। बस धन की वृद्धि ही उनकी एकमात्र साधना है। पर इन वणिको को अग्रेज कवि और नाटककार शेक्सपियर की निम्न पक्तियो को एक बार ध्यान देकर पढ तो जरूर लेना चाहिए—

'Good name in man and woman, dear my Lord,
Is the immediate jewel of their souls,
Who steals my purse, steals trash, 'tis something, nothing,
'Twas mine, 'tis his, and has been slave to thousands;
But he that filches from me my good name,
Robs me of that which not enriches him,
And makes me poor indeed'

अर्थात्—सुनीति पुरुष और स्त्री की आत्माओ का रत्न है। जो मेरा धन चुराता है, वह कुछ नही चुराता। धन आज मेरा है, कल उसका—वह तो हजारो का गुलाम रह चुका है। पर जो व्यक्ति मेरी सुनीति को छीनता है वह उस चीज का अपहरण कर लेता है, जो उसे धनी नही बनाती पर मुझे गरीब जरूर बना देती है!

: ११ :

खादी की मच्छरदानी

रेलगाडी मे बेहद भीड थी। मेरा डब्बा भी ठसाठस भरा था। करीब-करीब सभी यात्री रामगढ कांग्रेस के 'महाकुम्भ' मे शामिल होने के लिए जा रहे थे। टाटानगर तक तो फिर भी कुछ गनीमत रही, लेकिन वहा से तो डब्बे मे भीड का ठिकाना न रहा। जिसको जहा जगह मिली, घुस गया। ऊपर की पाटिया सामान के बजाय लोगो से ही लद गई। दृश्य सचमुच देखने लायक था।

हमारे डब्बे मे टाटानगर से एक महाशय पधारे जिनकी जीभ ज़रा लम्बी थी। उन्हे सोने की तैयारी करने की फिक्र तो थी, लेकिन इतनी भीड में निद्रादेवी पास कैसे फटकती ? और फिर उनकी जीभ को भी चैन कहा था। बस लगे बहस करने। शायद ही कोई विषय छूटा हो। बेचारे लेटने की कोशिश करते, लेकिन फिर जीभ जोर पकडती और उन्हे लाचार होकर बैठ जाना पडता। कोई दूसरी बहस छिड जाती और फिर बीच-बीच मे हसी के साथ गर्मागर्मी भी हो जाती। मैं भी बैठा-बैठा ऊँघ रहा था।

आखिर अहिंसा और खादी पर भी चर्चा छिडी।

"अरे भाई, अहिंसा से भी कभी किसी देश को स्वराज्य मिला है ?" उन महाशय ने जोर से कहा।

दूसरे सज्जन, जो उन महाशय से करीब सारी रात बहस करते रहे थे, झट बोले—"और देशो को अहिंसा से स्वराज्य न मिला हो, लेकिन हिन्दुस्तान को जरूर मिल सकता है।"

"सो कैसे ?"

"खादी द्वारा हम, हिंसा किए बिना आजादी हासिल कर सकते है।"

"अजी जनाब, खादी से स्वराज्य मिल चुका ! बिना मारपीट और

खून खराबी किये आजादी के सपने न देखिए।"

बहस करने वाले सज्जन भी काफी चतुर और सुलझे दिमाग के थे। उन्होंने खादी की समस्या को एक सुन्दर मिसाल देकर समझाया। वे शान्त मन से बोले—

"भाई, ये अंग्रेज तो मच्छर के समान है। वे हमारा आर्थिक शोषण करके एक तरह से खून पीते हैं। आप इन मच्छरो को शेर समझकर उन्हे लाठी, तलवारोऔर बन्दूको से मारने की योजना सोचते है, लेकिन मैं तो मच्छरो को दूर रखने के लिए खादी का सूत कात कर मच्छरदानी तैयार करना बेहतर समझता हू। मच्छर मेरा खून न पी सकेंगे और मैं सुख की नीद सो सकूंगा।"

इस तर्क को सुन कर वे महाराज चुप हो गए। बात मुझे भी बहुत जची, मेरी ऊंघ टूट गई।

"आपने मिसाल तो बहुत लाजवाब दी", मेरे मुह से निकल पडा। बहस भी खत्म हो गई और थोडी देर के लिए डब्बे मे शान्ति रही।

खादी की मच्छरदानी का विचार सचमुच सुन्दर है। हम स्वावलम्बी बनते हैं और अपने गरीब भाइयो की मदद करने के साथ-साथ गुलामी की जड भी काट सकते है, और ऐसा करने का हमे पूरा अधिकार है। अगर हम खादी और ग्राम-उद्योगो के जरिए आर्थिक शोषण बन्द कर दें तो फिर हमे किसी से लडने की क्या जरूरत रहेगी ? हिन्दुस्तान एक बडा देश है। अगर हमारे पास मच्छरदानी है, तो मच्छर और मक्खी का क्या डर ? वे भी आराम से अपने स्थान पर रह सकते है।

मेरे पास भी एक खादी की मच्छरदानी है। वह मेरी बनाई हुई नहीं है, लेकिन स्वातन्त्र्य दिन की प्रतिज्ञा लेने के बाद उसे तुरन्त खरीदना जरूरी था। यह मच्छरदानी काफी बारीक है लेकिन तो भी इसके छेदो मे से रात को कुछ मच्छर घुस जाते हैं और अपना काम पूरा करके सुबह की रोशनी में काफी लाल और खून से लथपथ नजर आते हैं। मुझे कुछ दिन तो बहुत गुस्सा आया। लेकिन फिर ख्याल आया— अभी मेरी खादी की मच्छरदानी दोषों से मुक्त नहीं हुई है। यह

दोप तो मेरा है न कि बचारे मच्छरो का।"

जब रात को मसहरी मे कुछ मच्छर घुस आते है तो मारने की कोशिश करना एक अच्छा-खासा पराक्रम ही है। वे आसानी से दोनो हाथो के बीच मे नही आते और सारी रात के लिए नीद हराम हो जाती है। इसका ठीक इलाज तो अपनी मसहरी को दोष-रहित बनाना है।

खादी और अहिसा की विचार-धारा कुछ इसी तरह की है। मोटे तौर से समझने के लिए मसहरी की चर्चा काफी उपयोगी साबित होगी। हा, अगर गहरे पानी मे उतरना हो तब तो खादी और अहिसा के तत्वो की थाह लेना कुछ हसी-खेल नही है।

: १२ :

नाम क्या रखें ?

छुटपन में एक मनोरंजक चुटकुला सुना था एक स्त्री था। उसने एक दिन बडे शौक से दही की पकौडियां बनाई। वह बहुत प्रसन्न थी। शाम को उसकी एक पडोसिन मिलने आ गई। उस स्त्री ने थोडी देर बातचीत कर मुस्कराते हुए कहा, "बहन, आज मैंने बडी जायकेदार चीज बनाई है।"

"क्या बनाया है, बताओ ?" पडोसिन ने उत्सुक होकर पूछा।

वह स्त्री कुछ देर चुप रही। फिर हँस कर बोली—

"मुन्ने के पिताजी को मसालेदार दही में डाला है।"

बेचारी पकौडी कैसे कहती, क्योंकि 'पकौडीमल' तो उसके पतिदेव का 'शुभ नाम' था! औरतों की भाषा औरतें आपस में बडी आसानी से समझ लेती हैं, इसलिए पडोसिन को तो इस पहेली का अर्थ जान लेने में पल भर भी न लगा। पर हमारे आपके लिए 'मुन्ने के पिताजी को मसालेदार दही में डालने' का रहस्य समझना टेढी खीर है।

लेकिन ठहरिये अभी किस्सा खत्म नहीं हुआ। वह पडोसिन पकौडियों से भी स्वादिष्ट एक चीज बना कर आई थी। वह खुश होकर बोली, "बहन, मैंने भी एक बढिया पकवान बनाया है।"

"लड्डू ?" मुन्ने की मा ने पूछा।

"नहीं, लल्ला के पिताजी और ताऊजी को शीरे में डाला है।"

अब कहिये क्या समझे आप ? सुनिये। उस पडोसिन के पति का नाम था गुलाबचन्द और सेठ का जमुनाप्रसाद। जो मिठाई उसने तैयार की थी—गुलाबजामुन—उसका [illegible] करते ये, दोनों ही नाम आ जाते थे।

खैर, गुलाबचन्द और जमुनाप्रसाद कोई बहुत खराब नाम नही थे। पर भला पकौडीमल भी कोई नाम मे नाम है ? और इससे भी भद्दे और बेतुके नाम मैं उन मित्रो को सुना सकता हूं, जो मेरे साथ कालेज मे पढे है। एक थे ढक्कनलाल। शक्ल-सूरत काफी अच्छी थी, पर नाम की वजह से नाको दम था। दूसरे मित्र थे गप्पूमल। उनके गुण तो वाकई नाम से मेल खाते थे। एक नम्बर के गप्पी थे वे। शायद उनके माता-पिता ने उनका यह नाम छुटपन से ही उनके गुण देख कर रख दिया हो। उल्टे-सीधे घरेलू नाम रख लेना तो हम समझ सकते है, पर उन्ही को दुनिया मे मशहूर कर देना तो अपने लडको का जन्म भर मखौल उडवाना ही है। कुछ और नमूने देखिये—पत्तीलाल, डालचन्द, घूरेमल, लोढूमल, छक्कीलाल, झब्बूमल, बरफीलाल और छोटूराम ! कितने सुन्दर नाम है ये। घूरेलालजी से पता चला कि कि उनसे पहले उनके जितने भाई-बहन हुए वे सभी छोटी उम्र में परलोक सिधार जाते थे। लिहाजा मा-बाप ने उनका नाम ऐसा रक्खा कि कोई भूत-पिशाच उनकी ओर फूटी-आख भी न देखे ! वे अपने नाम की महिमा से बच गये, या अपनी तकदीर से, कौन जाने, किन्तु उनका जीवन घूरामय बने बिना न रहा। वे जिन्दा तो जरूर रहे, लेकिन उनके मुह पर सदा मक्खिया ही भिनभिनाती रही और जिन्दगी भर उनका खूब मजाक उडता रहा।

इस तरह के बेढगे और बेसिर-पैर के नाम रखने के कारण कुछ भी हो, पर मा-बाप को भद्दे नाम रखकर अपने बच्चो को जलील करवाने का कोई अधिकार नही है। क्या वे यह कल्पना नही कर सकते कि उनके बेटे ढक्कनलाल या लोढूमल को अपने नाम की वजह से जन्म-भर पग-पग पर शर्मिन्दा होना पडेगा ? क्या वे नाम को व्यक्ति का इतना हीन और नाचीज़ अग समझते है कि उसकी खूबसूरती या बदसूरती की ओर जरा भी ध्यान देना जरूरी नही मानते ? सच तो यह है कि नाम हमारे व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण अग है। वह हमारे कपडो जैसा नही, जिसे हम जब चाहे बदल ले। हमारा नाम एक बार दुनिया की जबान पर चढा कि फिर नही बदला जा सकता। हा, अगर हम ससार को ही

असार और मायापूर्ण मानें तब तो नामों की भी हस्ती गायब हो जाती है। और मुझे हैरानी तो इस बात की है कि हरेक पिता अपने बच्चे के भविष्य को बड़ी आशा और हसरत से देखकर भी उसके नाम की ओर क्यों नहीं ध्यान देता ? प्रत्येक व्यक्ति आशा रखता है कि उसका लड़का दुनिया में नाम रोशन करेगा, बड़े-बड़े कारनामे दिखलायेगा। फिर भी वे उस भावी 'महापुरुष' का नाम सोच-विचार कर ऐसा क्यों नहीं रखते जिसका उच्चारण कर हमें खुशी हो और आदर का भाव अनायास हमारे दिल में उमड़े ?

अभी हाल ही में एक मित्र का पत्र मुझे मिला। उनके लड़का हुआ है। उसका नाम सुझाने के लिए उन्होंने लिखा है। उनका यह पहला ही लड़का है, इसलिए वे सुन्दर-सा नाम रखना चाहते हैं। मैंने उन्हें एक लम्बा खत लिखा है और कई नये नाम सुझाये हैं। अगर वे धार्मिक नाम रखना चाहें, तो राम भरत, ध्रुव, गौतम, राहुल आदि ठीक जचेंगे। यदि राष्ट्रीय और ऐतिहासिक नाम चाहें, तो विक्रम, अशोक, हर्ष, दिलीप, प्रताप आदि रख सकते हैं। और अगर केवल सुन्दरता का ही ख्याल हो, तो अरुण, अतुल, आनन्द, आदित्य, अनिल अदि शोभा देंगे। कुछ महीने पहले मैंने अपने एक रिश्तेदार की लड़की के लिए नाम सुझाये थे। उनका जिक्र भी यहां कर देना अनुचित न होगा। धार्मिक दृष्टि से उमा, गौरी, देवकी, रोहिणी, रुक्मिणी, उर्मिला, सुभद्रा, सुमित्रा, यशोधरा; ऐतिहासिक और राष्ट्रीय दृष्टि से शकुन्तला, पद्मा, मीरा दुर्गा, अहिल्या, सरोजिनी, कमला; सुन्दरता के लिहाज से चित्रा, उषा, इन्दिरा, पुष्पा, सरला, विजया, गीता, सरस्वती, वासन्ती, सुनीता, साधना आदि।

उत्तर हिन्दुस्तान में तो आजकल नाम के आगे जाति लिखने का रिवाज चल गया है, जैसे मिश्र, अग्रवाल, वर्मा, सक्सेना आदि। अंग्रेजी में इन्हें 'सरनेम' कहते हैं। लेकिन दूसरे प्रान्तों में ज्यादातर खानदानी नाम ही जोड़े जाते हैं, जैसे बंगाल में चटर्जी, बनर्जी, वसु; महाराष्ट्र में तिलक, खरे, आप्टे, जोशी, दामले; दक्षिण में आयंगर, अय्यर, चेट्टी, गुजरात में मेहता, देसाई, पारिख; सिन्ध में मलकानी, कृपलानी;

राजपूताने मे बजाज, बिडला, सेक्सरिया आदि। उत्तर प्रान्तो मे इन खानदानी नामो का चलन क्यो नही रहा, कहना मुश्किल है, मगर भद्दे नामो को जोडने से तो कुछ न लिखना ही बेहतर है। इस तरह के भौंडे खानदानी नामो का भी जरा मुलाहिजा कीजिए। महाराष्ट्र में हमे—भिडे, लौढे, बाघ, गोटे, ढाके, चोरघडे, और दहीहाडेकर—जैसे नाम सुनाई पडते है। राजपूताने मे भूत, धूत, भागडे, झुनझुनवाले आदि की कमी नही है। पारसियो में नरियलवाला, ड्राइवर, इजीनियर दारूवाला आदि से आपकी मुलाकात जरूर हो सकेगी। इग्लैंड और यूरोप के दूसरे मुल्को मे भी इस तरह के बेतुके नामो की कमी नही है, जैसे—बुल, बर्ड, वुल्फ, लेम्ब, फोक्स, ड्रिंकवाटर आदि।

हमे मानना होगा कि मुसलमानो के नाम मामूली तौर से ठीक होते हैं। मुहम्मद, हुसेन, अली, अहमद—जैसे नाम धार्मिक पुरुषो के ही है। आशिक हुसेन, माशूक अली, जैसे कुछ नामो को छोड कर बाकी काफी ढग के होते है। बगालियो के नाम भी साधारणतया सुन्दर और मीठे होते है। बगाल के रवीन्द्र, सुरेन्द्र, अरविन्द, प्रफुल्ल, प्रभात, सुभाष—जैसे नामो का अनुकरण अन्य प्रान्तो मे भी काफी हुआ है और दिन-दिन हो रहा है।

इन दिनो छोटे और सरल नाम ही रखने की प्रथा चल पडी है। यह ठीक ही है। ऐसे नामो का उच्चारण भी सरल होता है और वे आसानी से याद भी रक्खे जा सकते है। प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, पूर्णेन्दु का अर्थ भले ही अच्छा हो, लेकिन लोगो को नामो का उच्चारण भी हरदम करना पडता है, यह क्यो भूला जाय ? जब नाम कठिन होता है तो उसकी छीछालेदर भी खूब होती है। मेरा नाम ही लीजिए। लम्बा और कठिन होने से लोग उसके भिन्न-भिन्न रूप यो कर डालते है—श्री मन्नारायण, श्रीयुत नारायण, श्रीमान नारायण, श्री नारायण आदि। लोग समझते है कि 'श्री' जैसा आदरसूचक अक्षर मैंने अपने नाम के पहले लगाकर उचित ही किया। मित्रो को कैसे समझाऊँ कि 'श्री' मेरे नाम का ही अविभाज्य अग है ? सोचता हू, अगर मेरा नाम छोटा-सा सरल होता तो मुझे और मेरे मित्रो को इतनी परेशानी न उठानी पडती।

: १३ :

"बाबा, एक पैसा दे दो !"

एक बार रेलगाडी में एक भिखारी मिला। मेरे डब्बे मे आकर उसने कुछ गाने गाये और बाद मे मुसाफिरों के पास जाकर पैसा मागने लगा। मेरी बारी आई। मुझे भिखारियों से कुछ चिढ सी है। भले-चगे लोगो को मै कभी पैसा नही देता। हा, अगर कोई अपग-अपाहिज आदमी या औरत नजर आई तो दूसरी बात है। मैने भिखारी से पूछा,

'तुम भीख क्यो मागते हो ? कुछ धन्धा क्यों नही करते ?"

झट से जवाब मिला, "बाबूजी, मेरा यही धन्धा है।"

"तुमको इस तरह भीख मागने मे शर्म नही आती !" मैंने कुछ गुस्से मे कहा।

"बाबूजी, कोई भी आदमी लाचारी बिना भीख क्यों मागेगा ! भीख मागना आसान नही है। बहुत कठिन पेशा है, बाबू।"

"तुम कुछ काम क्यों नही करते ?" मैंने पूछा। भिखारी की आखों में आंसू छलछलाने लगे। उसने अपनी राम-कहानी सुनाते हुए कहा—

"मैने कुछ काम खोजने की कितनी कोशिश की, लेकिन कुछ भी काम-धधा न मिला। आखिर भूखो मरने की नौबत आगई। शर्म छोड कर, जी मार कर, यह पेशा करना पडा। ईश्वर न करे, भीख का पेशा किसी को करना पडे !"

मै चुप हो गया। सोचा कि उसे कुछ पैसे दे दू। लेकिन कुछ तय न कर सका। अगला स्टेशन आया और वह भिखारी उतर कर दूसरे डब्बे में चला गया।

उस दिन से भिखारियो के प्रति मेरी भावना बदल गई। मै उन्हें कुछ दूसरी निगाह से देखने लगा। क्रोध और घृणा की जगह हमदर्दी और समाज के लिए तिरस्कार पैदा हो गया। समाज की व्यवस्था की वजह से

कुछ लोगो को जिन्दा रहने के लिए अपना मान ही खो देना पडता है। अपने व्यक्तित्व को उन्हे मिट्टी मे मिला देना पडता है। रोटी के टुकडो के लिए मुहताज हो जाते है।

"बहुत कठिन पेशा है, बाबू।" ये शब्द मेरे दिमाग मे गूजने लगे। अगर ऐसा न होता तो हिन्दुस्तान के न जाने कितने लोग भीख ही मांगते। भिखारियो के अलावा करोडो लोग भूखो मरते है और किसी भी तरह जिन्दा रहने की कोशिश करते है। वे भी भीख क्यो नही मागते? भीख मागने से कुछ तो मिल ही जाता है। लोगो मे धार्मिक भावना होने के कारण भिखारी का पेट भर ही जाता है। लेकिन भीख मागना सचमुच आसान नही है, क्योकि इस धन्धे मे हमे अपनी हस्ती खो देनी पडती है। हा, एक बार बेशर्म हुआ फिर तो मनुष्य जड बन जाता है। भावनाए नष्ट हो जाती है। उसकी सतान भी जड हो जाती है। दोष तो उस समाज का है, जो मनुष्य को ऐसा बना देता है। और उसी समाज के हम लोग भिखारियो को घृणा की नजर से देखते है, उन्हे ठुकराते हैं और कोसते हैं। कितना सुन्दर न्याय है!

भिखारियो की समस्या हल करने के लिए कई तरह के इलाज सोचे गये है। कही-कही उद्योग-गृह (Work-house) शुरू किये गए है जहा भिखारियो को कुछ काम दिया जाता है। कुछ स्थानो मे भीख मागना कानूनन बिलकुल बन्द कर दिया गया है। इग्लैंड या अमरीका जैसे देशो मे भिखारी नही है, ऐसा लोगो का ख्याल है। लेकिन यह बात गलत है। लदन मे न जाने कितने भिखारी हैं। कुछ बेकार लोगो को सरकार 'डोल' (dole) यानी दान के रूप मे सहायता देती है। बाकी लोगो को भीख मागने की इजाजत दे दी जाती है। इग्लैंड जैसे देशो मे भी जब भिखारियो की समस्या है तो फिर हिन्दुस्तान जैसे गरीब देश का तो कहना ही क्या?

अगर हम इस प्रश्न पर गम्भीरता से सोचे तो वह काफी जटिल मालूम होगा। भिखारियो को एक दम कानून द्वारा बन्द कराना उचित न होगा, क्योकि यह दोष हमारे समाज की आर्थिक व्यवस्था के कारण है। पूजीवाद के साथ-साथ दरिद्रनारायण का अवतार टाला नही जा

सकता। जबतक हमारा आर्थिक सगठन राज्य के हाथ मे न होगा तब-तक बेकारी और भिखारियो की समस्या हल न होगी। समाजवाद के ही जरिए हम भिक्षावाद को रोक सकते हैं।

इन गरीबों को कुछ काम देने की पूरी कोशिश करना सरकार का धर्म तो है ही, लेकिन जनता को भी अपनी सामाजिक जिम्मेदारी का ख्याल करके दरिद्रनारायण की सेवा करना उचित है। हा, जो लोग सिर्फ काहिल-आलसी बनकर भीख मागने का पेशा करते है उन्हे तो जरूर आडे हाथ लेना चाहिए। जो लोग धर्म के नाम पर 'साधु-सत' की हैसियत से पैसा कमाना चाहते है उनका यदि सामाजिक बहिष्कार किया जाय तो ठीक होगा। लेकिन लाचार, अपग-अपाहिज और थके-मादे बूढे लोगो को तो समाज का आश्रय मिलना ही चाहिए।

यह निश्चय है कि कुछ लोग बनावटी—अपग रूप धारण करके समाज को धोखा देगे, लेकिन इसकी अधिक चिन्ता करने की जरूरत नही है। समाज मे कुछ हास्यरस भी होना चाहिए। कहते हैं कि श्रीमती एनी विसेंट के पास एक लगडा भिखारी रोज आया करता था, और उसे वे कुछ-न-कुछ दिया करती थी। लोगों ने उन्हे खबर दी कि वह भिखारी लंगडा नही है, सिर्फ भीख मागने के लिए बहाना करता है।

डा० बिसेंट ने उत्तर दिया, "कोई हर्ज नही। वह मेरे लिए रोज लगडेपन का नाटक तो करता है। मै इसी नाटक और अभिनय के लिए उसे इनाम दे देती हूं।"

लेकिन भिखारियों मे इस तरह के बहुरूपिए अधिक नही हो सकते। बहुत से लोगो के लिए तो जिन्दा रहना ही एक समस्या है। उनकी क्या हम मदद न करे ? अगर उन्हें हमारी ओर से सामूहिक और सगठित रूप में सहायता दी जा सके तो कितना अच्छा हो! म्युनिसिपैल्टियो को इस ओर ध्यान देना जरूरी है। अगर वे भिखारियो की समस्या का समझने की कोशिश करें और योग्य पात्रो को जनता द्वारा सहायता पहुंचा सकें तो हमे गलियो मे दुखजनक और ग्लानिपूर्ण दृश्य न देखने पड़ें।

: १४ :

जीवन की छोटी बातें

आजकल तो 'लीडरशाही' का बोलबाला है। आदर होता है लम्बे-लम्बे भाषणो का, वक्तव्यो का, सुन्दर प्रस्तावो का। जीवन की छोटी-छोटी बातो की ओर कौन ध्यान दे, बडे कामो से हमे फुरसत कहा है ?' लेकिन हम भूल जाते हैं कि छोटी-छोटी बातो से हमारा जीवन बनता या बिगडता है। वास्तव में छोटी-बातो मे ही किसी राष्ट्र की सस्कृति की स्पष्ट झलक मिला करती है।

सन् १९३५ की बात है। पचम जार्ज की रजत जयन्ती मनाई जा रही थी। उन दिनो मैं लदन मे था। बहुत से देशो के लोग जुबिली का महोत्सव देखने आये थे। अग्रेजो की खुशी का तो कोई ठिकाना ही न था। वे रात-भर सार्वजनिक पार्कों मे और बगीचो मे खेलते, गाते और नाचते रहते थे, बच्चे, बूढे सभी। जुबिली के उत्सव समाप्त होने के बाद पार्कों और बगीचो के अफसर की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसमे लिखा था कि जहा तक पता चला है, किसी भी बगीचे का एक भी फूल जुबिली के दिनो मे नही तोडा गया। कितने आश्चर्य की बात है हम हिन्दुस्तानियो के लिए ! "बगीचे के फूल और है किसलिए ?" हमारे भाई पूछते है। हमारे देश मे फूल तोडना तो एक मामूली बात है।

हमारी नसो मे अनुशासन कहा ? जहा बैठे वही थूक दिया, वही खाकर जूठन डाल दी। किसी पार्क मे गये तो वहा के फूलो पर धावा बोल दिया—खुले आम या चोरी से।

घर पर और सब चीजो की तरफ तो भले ही ध्यान हो, लेकिन रसोई, स्नानघर, पेशावघर और पाखाने की सफाई की बात तो सोची ही नही जाती। मैंने हिन्दुस्तान मे काफी भ्रमण किया है—करीब-करीब

सभी प्रान्तों मे। बडे-बडे लीडरो और अमीरो के पेशावघरो और सडासों का बयान करने लगूं तो एक अच्छी-खासी किताब बन सकती है।

ट्रेनो मे भी हमारी यही हालत है। तीसरे दर्जे मे बैठकर उसे हम अपने घर जैसा ही बना लेते है। वही खाकर हाथ-मुह धोना, वही थूकना, वही नाक साफ करना और वही लडको-बच्चो की खुली सडास स्थापित कर लेना। हमे दूसरो की सुविधा का कोई विचार नही रहता।

टिकिट-घर, डाक-घर, सिनेमा इत्यादि स्थानो पर किस तरह जानवरो जैसे एक-दूसरे को हम धक्का देते हैं। जब सिनेमा-घर के किवाड खुलते हैं तब हम किस उतावलेपन से पहले अन्दर घुसने का प्रयत्न करते हैं, मानो स्वर्ग के पट ही खुले हो।

सड़क पर चलते खासी आई तो झट बीच रास्ते पर थूक दिया। क्या हमे उन भाइयो का भी ख्याल आता है, जो नगे पैर सडक पर चलते है ?

कुछ वर्ष पहले एक अमरीकी चीन गया। उसने देखा कि लोगों की दूकाने तो काफी साफ-सुथरी है, लेकिन सडके बहुत गदी है। पूछने पर उत्तर मिला, "साहब, अपनी-अपनी दुकाने तो साफ कर लेते है। पर कूडा सडक पर फेक देते है। सडक किसकी है, जो साफ हो ?" यही हाल हमारा भी है।

किसी पुस्तकालय मे गये तो किताबो के अच्छे-अच्छे चित्र ही फाड़ लिये—और बडे ठडे दिल से। कभी-कभी तबीयत आ गई तो किताबो के सफे ही चुपचाप निकाल लिये। बेचारी पत्रिकाओ की जो दुर्दशा होती है वह तो किसी से छिपी नही है। और इन बातो के सबसे बड़े अपराधी है हमारे शिष्ट और शिक्षित विद्यार्थी।

अपने नौकरो के साथ हम कितना अच्छा बर्ताव करते है ? उनसे इस तरह काम लेते हैं मानो वे आदमी की शक्ल के जानवर हो। इन बेचारो को डाट-डपट के सिवा सुबह से शाम तक और मिलता ही क्या है। उनसे भूले होती है, लेकिन जब वे अच्छा काम करते हैं तब क्या हम उन्हे प्रेम या प्रशसा के दो शब्द कहते है ?

जब हम गर्मियो मे खस की टट्टी लगाकर अन्दर बैठते है और नौकर

को बाहर लू मे बैठालकर टट्टी पर बराबर पानी डालते रहने को कहते है तब क्या हम नौकर की दशा की कल्पना भी करते है ? रिक्शे मे बैठा कर हम जिस शान से बाजार मे जाते है वह तो पूजीवाद का भद्दे-से-भद्दा रूप है। एक आदमी दूसरे आदमी को खीचता है ! क्या यही हमारी सभ्यता है ? ईश्वर न करे कि किसी मनुष्य को मरने के अलावा दूसरे मनुष्य द्वारा अपने को उठवाना पडे।

ये सब छोटी-छोटी बाते है। इनके सम्बन्ध मे कुछ लिखना भी शायद धृष्टता समझी जाय। लेकिन इन्ही छोटी बातो की ओर ध्यान न देकर हमने अपने हृदय को पाषाण बना लिया है। जब बडे काम करने के मौके आते है तब हमारा पत्थर का हृदय क्या काम आ सकता है ?

छोटे बच्चो की समस्या को हम कितना महत्व देते है ? उनके मनोविज्ञान का अभ्यास करके हम उनको प्रेम से अच्छी आदतो की ओर ले जाने की कोशिश नही करते। उनकी शरारतो से तग आकर किसी पाठशाला मे भर्ती करा देना काफी है। और हमारे प्राथमिक स्कूलो की दशा तो देखने लायक ही है। हाईस्कूल और कालेजो की ओर सभी का ध्यान जाता है। उनके लिए रुपया देने वाले भी बहुत-से दानी मिल जाते है, लेकिन इन प्राइमरी स्कूलो की क्या हस्ती है ? शहरो की गलियो के किसी टूटे-फूटे मकान मे बिठला देना और एक मास्टर साहब को उन्हे जरूरत से ज्यादा शोर मचाने से रोकने के लिए भेज देना काफी है। उनके स्वास्थ्य की ओर बिलकुल ध्यान नही। देश के भावी नागरिको की नीव कितनी अच्छी डाली जा रही है ! जबकि प्राथमिक शिक्षको की योग्यता और कद्र सबसे अधिक होनी चाहिए, हमारे देश मे आज उनका आदर नही के बराबर है। जिसको और कोई धधा न मिले वह प्राइमरी शिक्षक तो बन ही सकता है।

घर पर बच्चे ने शोर मचाया, तो या तो एक चपत जमा दी गई, या वह भयभीत कर दिया गया। उसकी शक्ति का ठीक उपयोग न हो पाने से उसके भावी जीवन पर कितना असर पडता है, हमेशा के लिए उसके अन्दर किस तरह के मनोवैज्ञानिक विकारो का निर्माण हो जाता है, इसका अनुमान हममे से कितनो ने किया है या करने की जरूरत

समझी है ? इस प्रश्न का उत्तर तो नई पीढ़ी की दशा देखकर मिल जाता है। 'आज के बच्चे कल के नागरिक हैं।' इतना व्याख्यान में कह देना मामूली बात है, लेकिन शिशु-शिक्षा का महत्व समझ कर उसके के लिए ठोस काम कौन करे ?

'हमारा जीवन छोटी बातों से ही बनता है।' इस विचार का हम 'जप' भी करें तो अच्छा ही होगा। राजनैतिक स्वराज्य के मिल जाने पर भी असली स्वराज्य के लिए हमें छोटी बातों की ओर ध्यान देना ही होगा।

: १५ :

ख़्वाब ही देखते रहे !

तीन गरीब ब्राह्मण थे। भाई-भाई। एक दिन उन्हे कही से थोड़ी-सी मिठाई मिल गई। वह इतनी न थी कि तीनो मे ठीक से बाटी जा सकती। लिहाज़ा, उन्होने आपस मे तय किया कि उस रात तीनो भाइयो मे से जो कोई सबसे बढिया सपना देखे वही मिठाई खा ले।

दूसरे दिन सुबह उठकर तीनो भाई अपना-अपना ख्वाब बतलाने लगे। सबसे बडा भाई बोला—

मैने रात सपना देखा कि "मै दुनिया का बादशाह बन गया हू। मेरा महल आलीशान था। नौकरो-चाकरो की भीड थी। खाने-पीने की अच्छी-से-अच्छी चीजे थी। सभी किस्म की मिठाइया थी। जी भर खाई। मेरे दरबार मे सब देशो के राजा हाजिर हुए थे। मेरे सिहासन के चारो ओर हाथ जोडे खडे थे।".

उसने सोचा कि वही बाजी मार ले जायगा। फिर मझला बोला—

"मैंने ख्वाब देखा कि मेरे पख उग आये है। परियो की तरह मै सारी दुनिया मे उडा-उडा फिरा। बडा मजा आया। मैने अग्रेजो का देश देखा, अमरीका देखा, जर्मनी और जापान की भी सैर की। जहा जो चाहा सो खाया क्योकि मै तो सबको देख सकता था, पर मुझे कोई न देख सकता था।"

बडा भाई जरा शर्मिन्दा हुआ। मझले भाई का स्वप्न उससे भी बढिया निकला। अब सबसे छोटे भाई की बारी आई। उसने कहा—

"मैने तो सोने के थोडी देर बाद ही यह सपना देखा कि मैं उठा और जाकर मिठाई खा ली। बडी भूख लगी थी। इतने मे नीद खुल गई। मैंने सोचा कि ख्वाब सच्चा करना चाहिए। बस उठा, पोटली

खोली और सब मिठाई खा ली। फिर पड़कर सो गया। नींद भी खूब गहरी आई।"

यह सुनकर दोनों भाई खूब नाराज हुए। जाकर देखा तो मिठाई सचमुच गायब। उन्होंने छोटे भाई से डाटकर पूछा—

"तूने हमसे बिना पूछे इस तरह मिठाई क्यों खा ली ?"

उसने नम्रता से उत्तर दिया—

"आप (बड़ा भाई) तो उस समय दुनिया के शाहंशाह थे। सारे देशों के राजा आपके सामने हाथ जोड़े खड़े थे। मुझ गरीब को आपके पास यह छोटी-सी बात पूछने कौन जाने देता! और आप (मझला भाई) तो सारी दुनिया में उड़ते फिरते थे। आपको कोई देख भी नहीं सकता था। फिर भला मैं कैसे पूछता ?"

लतीफा है मजेदार! बेचारे दोनों भाई तो पड़े-पड़े मन चाहे ख्वाब ही देखते रहे और छोटे भाई ने रातोरात उठकर अपनी इच्छा पूरी भी कर ली। कुछ ऐसा ही हाल हममें से बहुतों का है। हमारी ख्वाहिशें तो बहुत-सी रहती हैं। कोई करोड़पति बनना चाहते हैं तो कोई बादशाह। कुछ देश के लीडर बनकर अपना नाम अमर करना चाहते हैं तो कोई माई के लाल सन्यासी बनकर राम और ब्रह्म के साक्षात् दर्शन करना चाहते हैं। पर सभी पड़े-पड़े ख्वाब देखते रहते हैं। रात को भी और कभी-कभी दिन में भी। मन के लड्डू खाते रहने में ही सतोष मान लेते हैं। ख्याली पुलाव पकाते रहते हैं। और तुर्रा तो यह कि सारा दोष बेचारे भगवान् के सिर थोप दिया जाता है। अपने पुराने जन्मों के बुरे कर्मों की दुहाई दे दी जाती है।

"क्या करें—भइया, अपनी-अपनी तकदीर है। भगवान् ने चाहा तो मेरी कामना पूरी होगी, नहीं तो अपना क्या वश!" हम झट कह देते हैं—अरे भाई, गोसाईं तुलसीदास भी तो लिख गये हैं—

"जो जस करिय सो तस फल चाखा।
कर्म प्रधान विश्व कर राखा।"

हमें फौरन सूरदास भी स्मरण हो आते हैं—

"करम गति टारे नाहिं टरे।"

बस इसी तरह अपने दिलो को समझा लिया जाता है। पर पुरुषार्थ और श्रम की महिमा बिरले ही गाते है।

उस कुम्हार की कहानी तो आपने छुटपन मे पढी ही होगी, जो अपने मटको को एक के ऊपर एक सजाकर, सोते वक्त सोचने लगा—

"इन मटको को कल के मेले मे बेचकर काफी पैसे कमाऊगा। उन पैसो से मिठाई की एक छोटी-सी दूकान खोलूगा। उसमे भी खूब आमदनी होगी। फिर तिजारत करूगा और धीरे-धीरे एक बडा सेठ-साहूकार बन जाऊगा। बहुत से लोग शादी के लिए मेरे पास आने लगेगे। एक अच्छी लडकी चुन कर विवाह भी कर लूगा। उस पर मैं अपनी खूब शान रक्खूगा। अगर कभी उसने मेरा जरा भी अपमान कर दिया तो मैं उसे लात से मारूगा।"

पडे-पडे उसे नीद भी आ गई थी। 'लात मारने' का स्वप्न देखते समय उसे इतना जोश आगया कि सोते-सोते ही उसकी लात सचमुच चल गई। सारे घडे भड-भड-भड नीचे गिर कर फूट गए।

बहुत साल पहले जब स्कूल की किसी रीडर मे यह किस्सा पढा था तो बडी हसी आई थी। उस कुम्हार पर रहम भी आया। किन्तु आज जब जरा गहराई से ख्याल करता हू तो हममे से बहुतो का यही हाल दिखाई देता है। हम लम्बी-चौडी योजनाए बनाने मे मशगूल रहते है। भविष्य के सुनहरे सपने देख-देख कर खुश होते है। गुजरे जीवन की याद कर हर्ष और शोक की ताल-तलैयो मे गोते लगाते रहते है। पर वर्तमान का पूरा आदर नही करते। भरसक प्रयत्न नही करते। भूत और भविष्य की यादगारो व कल्पनाओ के बवडर मे वर्तमान यू ही उडकर गायब होता चला जाता है और हम कोरे-के-कोरे रह जाते है। भूत गुजर ही चुका है, भविष्य का स्वप्न भी काफूर हो जाता है। बीत चुके और आइन्दा आने वाले जमाने की चिंता मे अनन्त वर्तमान को भूल जाते है।

लेकिन अगर वर्तमान को सम्हाला जाय तो भूत हमारा कुछ भी नही बिगाड सकता और भविष्य पर भी हमारा बहुत-कुछ कब्जा रह सकता है। जरूरत है अथक श्रम और पुरुषार्थ की, अटूट श्रद्धा और

आत्म-विश्वास की। कवि लोगफेलो की निम्न पक्तियां बड़ी मार्मिक है—

"Let the future not detain you
Let the dead past bury its dead,
Act, Act, in the living present,
With heart within, and God overhead"

अर्थात्—भविष्य का इन्तजार न करो और जो बीत गया उसे दफना दो ! सजीव वर्तमान मे कार्यशील बनो—दिल मे हिम्मत और ईश्वर मे श्रद्धा रख कर।

यही खासियत दुनिया के सभी बडे-बडे आदमियो की रही है, चाहे वे साहित्यिक हो, चाहे कलाकार, वैज्ञानिक हो, चाहे राजनीतिज्ञ। इरादे की मजबूती और अटूट हिम्मत ने ही उन्हे इतना ऊचा उठाया। वे कर्मयोगी रहे हैं, केवल स्वप्न देखने वाले नही।

बडे-बडे वैज्ञानिको ने कितने कष्ट सहे हैं ! गैलीलियो इटली का रहने वाला था। उसने साबित किया कि सूरज पृथ्वी के चौगिर्द नही, पृथ्वी सूरज के चारो ओर घूमती है। उसे रोम मे बुलाया गया और उससे सफाई मांगी गई, क्योकि उसके विचार धर्मग्रथो के खिलाफ थे। उसकी जान तो किसी तरह बच गई। उसे जेल में डाल दिया गया और मरने पर पोप ने उसकी कब्र के लिए स्थान देना भी नामजूर कर दिया। इटली के महान् दार्शनिक ब्रूनो को तो जिन्दा ही जला दिया गया, क्योकि उसके विचार ईसाई धर्म से मेल नही खाते थे। पर इन महापुरुषो ने अपनी धुन न छोडी, अपने काम मे आखिरी दम तक जुटे रहे। यूनान का सबसे बड़ा कवि होमर एक मामूली भिखारी था। कालिदास एक अपढ मूर्ख से कवि कैसे बने यह तो हमे पता ही है। हमारे देश के अवतार-पुरुष राम और कृष्ण कर्मयोगी थे और तिलक, गाधी, और मिलती जवाहरलाल, मे उसी आदर्श की झलक मिल रही है। इगलैंड के महान् राजनीतिज्ञ पिट, ग्लैड्स्टन, डिजरैली आदि में वही कार्य-शीलता और लगन पाई जाती है। अमरीका के नामी पुरुष लिंकन, फ्रैन्कलिन आदि मे भी यही गुण मिलते है।

लिहाजा बडे और छोटे शख्सो मे खास फर्क यही है कि छोटे लोग ज्यादातर सोच-विचार और स्वप्न देखने मे ही अपनी जिन्दगी बिता देते है, किन्तु महापुरुष हरेक छोटे-से-छोटे मौके का पूरा फायदा उठा कर, सदा प्रयत्नशील रह कर, अपने उद्देश्य को पूरा कर लेते है। किसी कवि ने ठीक ही तो लिखा है—

The heights by greatmen reached and kept
Were not attained by sudden flight,
But they, while their companions slept,
Were toiling up-ward in the night

अर्थात्—बडे लोगो ने अपनी ऊचाई अचानक उडान मार कर हासिल नही कर ली, बल्कि जब उनके साथी रात को पडे सोते रहे, उस वक्त उन्होने ऊपर उठने के लिए जी-तोड मेहनत की।

हाँ, सफलता मिलना या न मिलना मौके और इत्तफाक की बात है। चाहे तो आप उसको भाग्य या किस्मत कह सकते है। लेकिन मनुष्य का काम भरसक कोशिश करना है, उसकी कोशिश का फल फिर जो भी हो। पूरा पुरुषार्थ किये बिना भगवान की कृपा के मुहताज बनना इसान को शोभा नही देता और सच बात तो यह है कि जो खुद हिम्मत और मेहनत से काम लेता है उसे ईश्वर भी मदद देता है।

इसान की क्या, चीटियो की ही ज़िन्दगी देखिये। चीटिया कितनी उद्योगी और परिश्रमी होती है। किसी चीज़ को लेकर दीवार पर चढती है, गिर जाती हैं, फिर चढती है। हिम्मत नही हारती, तुरन्त निराश नही हो जाती। जब कोई पदार्थ उनके बिल मे नही घुसता तो उसे तरह-तरह से उलट, पलट टेढा—सीधा कर, ज़रूरत पड़ी तो तोड-मरोड़ कर ले जाती हैं। वर्षा के पहले ही अपना खाने-पीने का इन्तज़ाम समय पर कर लेती है। परमेश्वर के भरोसे नही बैठती !

छोटी चिडियो व दूसरे परिन्दो का भी यही हाल है। अपना घोसला बनाने के लिए वे कितना परिश्रम करती हैं। कहा-कहा से तिनके बीनकर, चोच मे दबा कर, लाती है। हम उनका घोसला बार-बार गिरा देते है, लेकिन वे मायूस नही हो जाती, फिर उसी काम मे जुट

जाती हैं। अपना व अपने बच्चो का पेट भरने के लिए वे सुबह से शाम तक इधर-उधर फुदकती, उडती फिरती, कोना-कोना ढूढ डालती हैं। किसी का मुंह नही ताकती। फिर हम तो मनुष्य हैं। कुदरत ने हमें बहुत-से साधन दिये है। हमे अक्ल दी है, सूझ और तदबीर दी है। हमारा बात-बात मे भगवान को याद करना—उसके प्रेम के लिए नही, केवल अपनी गरज के लिए—बिल्कुल गैरमुनासिब है, लज्जा और शर्म की चीज है। हमे अपना कर्त्तव्य पूरे दिल से करते रहना चाहिए, ईश्वर या कुदरत अपना फर्ज़ अदा करती रहेगी। उद्योग हमारे वश की बात है, उसका फल हमारे हाथ मे नही है। यही 'निष्काम-कर्म' का आदर्श भगवान कृष्ण ने हमे बताया है। दुनिया से विरक्त हो ईश्वर का ध्यान—भजन करना और अपने आदर्श के स्वप्न देखते रहना साधना नही है। ससार मे रहकर अपने जीवन के ध्येय को प्राप्त करने के लिए भगीरथ प्रयत्न करना ही सच्चा योग है :

"योग: कर्मसु कौशलम् !"

तीसरा दर्जा

"यह जगह क्या तेरे बाप ने खरीद ली है ? मैंने भी पैसे देकर टिकिट खरीदा है !"

"अजी, चुप रहो ! क्यो बकवास करते हो !"

"उठता है कि नही ? लाट साहब का बच्चा !"

थोडी देर मे मार-पीट की भी नौबत आ गई ! डब्बे के सब मुसाफिर खडे हो गये ! कुछ तमाशा देखते थे, कुछ झगडे को खत्म करने की फिक्र मे थे। रात के बारह बजे होगे । मै ऊपर की सीट पर लेटे-लेटे नीचे का शोर-गुल सुन रहा था। इस थुक्का-फजीहत मे नीद आने का तो सवाल ही क्या था ! सोचा कि मैं भी इस झगडे को शान्त करने की कोशिश करू । लेकिन उस शोर मे अपनी आवाज बन्द रखने मे ही बुद्धिमानी मालूम हुई । और आखिर इन झगडो मे कोई कहातक पडे ? तीसरे दर्जे मे शायद ही कोई ऐसा सफर मैंने किया होगा जिसमे इस तरह की लडाई का दृश्य कम-से-कम एक बार सामने न आया हो !

इन झगडो को मिटाने का क्या उपाय है ? पहले तो रेलवे की ओर से ज्यादा अच्छा इतज़ाम करने की कोशिश होनी चाहिए । पश्चिम के देशो मे मुसाफिरो के बैठने के लिए अलग-अलग हिस्से बना दिये जाते है, ताकि कोई लेट ही न सके । जिन लोगो को दूर का सफर करना होता है उनके लिए सोने लायक कुछ अलग डब्बे रहते हैं। अगर इसी तरह का कुछ प्रबन्ध हिन्दुस्तान मे भी किया जाय तो बहुत-सी चखचख आसानी से बद हो सकती है ।

यह प्रबन्ध जब होगा तब होगा, किन्तु हरएक मुसाफिर का फर्ज़ है कि वह अनुचित व्यवहार न करे । अगर जगह हो तो सब लोग खुशी से रात-भर सो सकते है, लेकिन अगर डब्बा भरा है और ठीक तौर से

बैठने की भी जगह नही है तो किसी भी मुसाफिर को हक नही है कि वह पड़ा-पड़ा सोता रहे। इस तरह लड़-झगड़ कर उठाने का मौका ही न आने पाये, यह बात हम सबको ध्यान मे रखनी चाहिए।

हमारी दूसरी गदी आदत है, हद से ज्यादा पूछताछ करने की। "आपका नाम क्या है" से लेकर 'आपको क्या वेतन मिलता है ?" और "ऊपर से कितना कमा लेते हैं" तक पूछ लेने पर कोई सवाल पूछना बाकी नहीं रहता। जब कभी मुझसे ऐसे सवाल पूछे जाते है तो मैं दो-एक प्रश्नो का उत्तर रूखेपन से देकर चुप हो जाता हूं, या फिर पूछता हू—

"कहिये आपको क्या करना है ?" इसका उत्तर तो झट यही मिलता है—

"अरे साहब आप तो नाराज हो गये !"

और आखिर किसी की पूरी राम-कहानी जानने का हरएक को क्या हक है ? कोई क्यो अपनी सब बाते बतलाये ? और नाहक पूछने से मतलब ? लेकिन ऐसी मनोवृत्ति के मुसाफिरो की यात्रा कटे कैसे ? पश्चिम के देशो मे तो लोग अखबार या किताबें पढते रहते हैं। बात करने की न तो उन्हे फुरसत होती है, और न आदत।

सफाई की ओर तो हममे से बहुत थोड़े लोगों का ध्यान रहता है। हरेक डब्बे मे लिखा है—"थूको मत !" लेकिन डब्बे मे थूकना तो सबका 'जन्मसिद्ध' अधिकार-सा हो गया है। दियासलाई और बीड़ियों के टुकड़े भी बाहर न फेंक कर अन्दर ही फेंकते हैं। रेलवे की ओर से बड़े-बड़े स्टेशनो पर सफाई के लिए मेहतरो का प्रबन्ध रहता है। लेकिन उन्हे बुलाकर डब्बा साफ करवाने की आदत लोगो में नही है। साथ-साथ यह भी सोचना चाहिए कि वे बेचारे कहांतक साफ करें ! अन्त मे तो हमें अपनी आदतों को ही सुधारना होगा।

सिगरेटों के धुए का भी एक पेचीदा मामला है। रेलवे का नियम तो ऐसा है कि बिना सब मुसाफिरो की इजाजत मागे कोई भी डिब्बे में सिगरेट नही पी सकता। लेकिन इस नियम को माने कौन ? रेलवे कम्पनी के अधिकारी भी इस ओर ध्यान नही देते। और सच बात तो

यह है कि अधिकतर लोग सिगरेट या बीडी पीते है, फिर कौन किसको मना करे ? लेकिन मेरे जैसे बेचारे कुछ लोग जो मुह और नाक से एजिन की तरह धुआ उडाने के आदी नही है, परेशानी मे पड जाते है। और लोग तो सीधे दूसरो के मुह की ओर ही धुआ उडाते हैं। इस शान का क्या ठिकाना !

लेकिन पश्चिमी देशो की तरह रेलवे कम्पनी को दो तरह के डब्बे रखना चाहिए। एक, जिसमे सिगरेट पी जा सकती है। और दूसरे, जिसमे सिगरेट नही पी जा सकती। पर, रेलवे को मुझ जैसे मुसाफिरो की क्या फिक्र है ?

: १७ :

मोटर की धूल

एक दिन मैं शाम को टहलने निकला। दिन भर का थका-मादा था। सोचा था कि खुली हवा में घूमने से कुछ तफरीह होगी, मन को जरा शांति मिलेगी। मंद हवा बह रही थी, सूरज डूबने वाला था। मौसम काफी सुहावना था। सड़क पर शायद मेरी ही तरह और कई लोग भी टहलने की मंशा से जा रहे थे।

मैं थोड़ी ही दूर गया था। भोंपू की कर्कश और भद्दी आवाज सुनी। पीछे मुड़ कर देखा तो एक मोटर बहुत तेजी से आ रही थी। देखते-देखते वह मेरे पास से गुजर भी गई। धूल का तूफान-सा छा गया। मैं मुंह पर रूमाल रख कर सड़क के एक ओर भागा, ताकि धूल से बच सकूं। लेकिन धूल ने भी उसी ओर पीछा किया। मेरा दम घुटने लगा। आंखों में भी धूल भर गई। बराबर देख भी नहीं सकता था। जब धूल कम हुई तब आगे-पीछे के लोगों की ओर निगाह फेरी। उन बेचारों का टहलना भी धूल में मिल गया। कोई धोती से अपना मुंह और नाक बंद किये था, कोई मुंह के सामने टोपी हिलाकर धूल से बचने की कोशिश कर रहा था।

मुझे उस दिन बहुत बुरा लगा। आखिर इन मोटर वाले धनिकों को आम लोगों के आनन्द में इस तरह मिट्टी झोंकने का क्या अधिकार है? एक आदमी शान से मोटर का भोंपू बजाते हुए निकल जाय और बहुत-से लोगों को विवश होकर हवाखोरी के बजाय धूल खानी पड़े, यह कैसा न्याय है? समाज इस तरह का अन्याय क्यों सहन करता है? मोटर की धूल उड़ाने वालों के लिए दंड या कानून बनाना चाहिए। इन लोगों को दूसरे के आराम और सुख का कुछ भी ख्याल नहीं होता। ये जनता का भला करने के बजाय समाज में धूल के गुब्बारे उड़ाते हैं;

अपने आनन्द के लिए दूसरो का गला घोटने मे अपना गौरव समझते है।

कुछ इसी तरह के विचार मन मे उमडने लगे। मोटर पूजीवाद के प्रतीक-रूप मे ही नजर आई। जिस तरह पूजीपति आम जनता का शोषण करते है और उन्हे इस शोषण का पूरा ज्ञान भी नही होता, उसी तरह मोटर वाले धूल उडा कर शायद अनजाने लोगो को हैरान करते हैं।

लोग मोटर वालो के खिलाफ आवाज क्यो नही उठाते ? यह प्रश्न मेरे सामने आया। असल बात तो यह है कि मोटर और धन के लिए सबके मन मे लालसा छिपी हुई है। जब मोटर धूल उडाती हुई निकल जाती है तो लोगो के मन में क्रोध के बजाय द्वेष-भावना उठती है। जब हम खुद मोटर मे बैठते हैं तो इसी तरह धूल उडाते है। उस वक्त हमारे मन मे भी बडप्पन की बू रहती है। हम दूसरो की तकलीफ का ख्याल भूल जाते है। यही तो है पूजीवाद का कारण और शाप! इसी से तो समाज की तकलीफ दूर नही होती। रोग को दूर करने के बजाय लोग उसी रोग से ग्रसित होने की लालसा रखते है।

पूजीवाद के कायम रहने का एक और रहस्य है। यह विचार आज बम्बई मे बैठे-बैठे आया। छोटे शहरो मे तो जहा सडके सीमेट और कोल-तार की नही होती, धूल अवश्य उडती है, जो लोगो को नागवार भी लगती है, लेकिन बम्बई जैसे बडे-बडे शहरो मे तो पूजीवाद का यह दोष भी खुले तौर से नही दीखता। शोपण को आख से ओझल करने के लिए पक्की और चिकनी सडकें बना ली गई है, जिससे लोगो को लूट की धूल न दीखे। कितने चतुर है ये पूजीवादी !

पूंजीवादका नाश करने के लिए कई तरीके बतलाये गये है। मुख्य तो है 'साम्यवाद', जिसका रूस मे प्रयोग किया गया है। लेकिन वह प्रयोग हिंसा से भरा है। दूसरा रास्ता गाधीजी का है, जो अहिंसात्मक है। गाधीजी की ग्राम्य सभ्यता की कल्पना निराली है। उसमे तो शोषण का कारण ही जड से नष्ट हो जाता है। मैं उसी सभ्यता को सच्चा समाजवाद मानता हू, क्योकि उसमे पूजीवाद जैसी लालसा

ही नही है, उसकी नीव सत्य, अहिंसा और सयम पर है, भोग और हिंसा पर नहीं ।

अब धूल उडाने की बात तो पुरानी हो गई है । लडाई के भयंकर मैदान मे फौलादी मोटरें धूल के बजाय गोले उडाती है । वे भी पूजीवाद और उसके साथ-साथ साम्राज्यवाद की प्रतीक है । पूजीवाद अपना राज्य कायम रखने के लिए जो भी करे वह थोडा ही है । नीचे से ही गोला फेंकने मे मोटर को आखिर सतोप नही हुआ । अपने रूप से कुछ अन्तर करके वह हवा मे उडकर गोले बरसाती है । बच्चे, स्त्रिया, बुड्ढे, सभी निर्दोप और असहाय प्राणियो का हँस-हँस कर सहार करती है । मोटर की क्रूरता ने मानवता का ही गला घोट दिया है ।

मोटर-तहजीब से जान बचाने का सिर्फ एक इलाज दीख पडता है, और वह है गावो की सभ्यता । लेकिन न जाने लोग इस बात को कब समझेंगे ! समय हमारे रोग का इलाज करेगा । क्या हम समय को पहचान कर उसी के अनुसार काम करेंगे ?

: १८ :

लीडरशाही

'नादिरशाही' मे तो लोग तग आ गए है, और उसे नफरत की नजर से देखते है। बहुत-से लोग 'लोकशाही' की आवाज़ उठाते हैं और उसके पीछे दीवाने-से हो गये है। लेकिन आजकल तो 'नादिरशाही' और 'लोकशाही' से भी बढकर 'लीडरशाही' का बोलबाला है और शायद वह सब शाहियो से भयकर और कपटी भी है।

'लीडरशाही' एक वैज्ञानिक कला है। धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक, सभी क्षेत्रो मे इसका प्रयोग किया जा रहा है। लेकिन वह प्रयोग राजनैतिक क्षेत्र मे ही सबसे ज्यादा सफल हुआ है, क्योकि राज-नीति बीसवी सदी का एक खास फैशन है। इस फैशन मे भिन्नता विशेष सिद्धान्त है, क्योकि उसके बिना लीडरशाही पनप ही नही सकती। जिस तरह फैशने दिन-दिन बदलती रहती है, उसी तरह नई-नई पार्टिया भी आए दिन सामने आती रहती है।

नेता बनने के लिए सबसे पहले तो कोई नई पार्टी बनाने की योजना रखनी चाहिए, चाहे उस पार्टी के सिद्धान्त कितने ही ऊट-पटाग क्यो न हो। उस नवीन पार्टी का उद्देश्य देश के बडे-बडे नेताओ के प्रतिकूल होना चाहिए, ताकि बडे नेताओ को गाली देने का अवसर मिल सके। प्रसिद्ध और पुराने नेताओ को गाली सुनाने से लोगो का ध्यान तो आकर्षित हो ही जाता है। फिर अपने बे-सिर-पैर के सिद्धान्तो को सुदर भाषा और जोरदार आवाज मे व्यक्त करने से काफी लोग पार्टी से सहानुभूति रखने लगते है, उसमे शामिल भी हो जाते है। और हमारे नित नए नेताओ के सौभाग्य से जनता मे विवेक का हमेशा काफी अभाव रहता है। जैसे सुना बस वैसे विचार बन गये। रोज तरह-तरह के सुदर भाषण सुन कर रोज विचार बदलने मे तो कोई मान-हानि का

सवाल है ही नही, बल्कि एक ही विचार दिमाग मे बहुत दिनों तक टिकना बुद्धि-हीनता की निशानी मानी जाने लगी है। फिर 'लीडर-शाही' की तूती क्यो न बोले ?

रोज कुछ-न-कुछ वक्तव्य निकलते रहने के बाद बडे नेताओ के साथ सभाओं मे मच पर बैठने की कोशिश करना लीडरशाही की कला का खास उसूल है। कम-से-कम शक्ल से तो पहचानने लगते है। नाम तो पत्रो मे निकलता ही रहता है। चेहरा भी पहचान लिया, फिर और क्या चाहिए ? भाषण देने की सहूलियते प्राप्त हो सकती हैं और भाषण देना तो लीडरशाही का मूल सिद्धान्त है।

लीडरशाही के कारण समाज मे अनुशासन का भग दिन-दिन बढता जा रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको एक नेता समझने लगा है, और दूसरे लोगो की बात सुनने को तैयार नही है। नवयुवक अपने वयोवृद्धों को बेवकूफ समझते हैं और सोचते है कि दुनिया का सब ज्ञान और अनुभव उनको हासिल हो गया है, और उनको किसी के सलाह-मशविरा की जरुरत नही है। इसलिए हर जगह हडताल और सत्याग्रह की नौबत आने लगी है। परस्पर द्वेष और अनादर बढ़ता जाता है। स्वतन्त्रता के नाम पर आतकवाद फैलता जा रहा है। जब सभी अपने को नेता समझते है, तब कौन किसकी सुने ?

इस लीडरशाही का इलाज क्या हो सकता है ? क्या डिक्टेटरशाही शुरू की जाय ? गम्भीर विचार करने पर एक ही रास्ता नजर आता है, और वह है लोकमत को शिक्षित बनाना। हमें ऐसे बहुत-से नि स्वार्थ समाज-सेवक चाहिए, जो नेता बनने के विचार से कोसों दूर रह कर जनता-जनार्दन की सेवा मे लीन हो जाय और लोगो के विचारो को शिक्षित बनाने का भरसक प्रयत्न करें। जनता तो अपने हित और अहित को भी नहीं समझती, 'लीडरों' के पजे मे जकड जाती है। अगर लोगो मे विवेक पैदा करना है तो उनकी निश्चल सेवा करके उनका विश्वास प्राप्त करना होगा।

अगर ऐसा न हुआ तो हमारे राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन मे एक बडा खतरा है, यह बात हमें जरुर समझ लेना चाहिए।

: १९ :

चप्पल गायब

न जाने मैंने अभी तक कितनी चप्पले खोई होगी। अब तो नई चप्पल पहनने को दिल ही नही करता। हमेशा मन मे डर लगा रहता है कि कही चप्पल गायब न हो जाय।

उस दिन एक मन्दिर मे कीर्तन सुनने गया। वैसे तो मन्दिर मे जाने का मुझे शौक नही है क्योकि मुझे मूर्ति-पूजा मे न तो रुचि है, न विश्वास। लेकिन सगीत मे दिलचस्पी जरूर है। कीर्तनकार कोई नामी सज्जन थे। इसलिए मदिर मे जाने की इच्छा हुई। जब चप्पल खोलकर अन्दर जाने लगा तो ख्याल आया कि चप्पल बिलकुल नई है, कही किसी का जी न ललचा जाय। चप्पल को जान-बूझकर उल्टा रक्खा ताकि किसी की नजर उस पर न पडे। अन्दर जाकर भी ध्यान तो बाहर ही रहा। आखिर कीर्तन सुनना था तो फटी-पुरानी चप्पल क्यो न पहनकर आया ? लेकिन आशा थी कि मदिर मे तो कोई चप्पलो को उठाने न आता होगा।

कीर्तन खत्म हो जाने पर जब भीड बाहर निकली तो मै जल्द ही बाहर आ गया। कुछ अधेरा-सा था। मेरे पास टॉर्च थी। रोशनी मे कई उल्टी चप्पलो को सीधा किया। लेकिन मेरी चप्पल न दिखलाई दी। सोचा कि शायद किसी ने हटाकर इधर-उधर रख दी होगी। चारो ओर काफी देर तक खोजा, लेकिन कही पता न चला। धीरे-धीरे सभी लोग चले गये। मै इसी आशा से खडा रहा कि शायद किसी तरफ चप्पल पडी होगी। बाद मे यह भी देखने के लिए खडा रहा कि मेरी चप्पल शायद कोई गलती से पहन गया हो और अपनी चप्पल छोड गया होगा। लेकिन वहा तो कोई टूटी चप्पल भी न बची।

बहुत गुस्सा आया। अगर कोई मेरी चप्पल पहने मिल जाता तो अच्छी खबर लेता। आखिर इस तरह के लोगो को समाज क्यो सहन

करता है ? चप्पल या छतरी उठाने वाले गरीब होते है, ऐसा भी नही है। कुछ लोगो को इस तरह के कामो की कुछ आदत ही पड़ जाती है। और सबसे बुरी बात तो यह है कि इसी तरह की हरकते काफी 'सभ्य' लोग भी करते हैं और उन्हे कुछ खास शर्म भी नही आती।

चप्पलो की तरह छतरी भी कुछ कम नही खोई हैं। एक बार छतरी पर नाम भी लिखवाया। लेकिन वह भी न बची। न जाने लोग किस सफाई से इस तरह की चीजो को गायब करते है। देखते-देखते वे लापता हो जाती है। जब यूनिवर्सिटी मे पढता था तब तो साइकले भी गायब होती थी। शिक्षण का यह कितना अच्छा व्यावहारिक रूप है !

ये बातें है तो छोटी, किन्तु मै तो समाज को इन्ही छोटी चीजो से आकता हूं। आखिर छोटी-छोटी चीजो से ही तो हमारा जीवन बनता है। अगर हम इन बातो की ओर उदासीन रहे तो बडी बातो मे भी हमारा कमीनापन जाहिर हुए बिना नही रहता।

मिसाल के लिए एक छोटी-सी बात का जिक्र करता हू। आजकल बडी-बडी छुट्टियो के अवसर पर रेलवे कम्पनिया जोन टिकटे चालू करती है। उन टिकटो पर लोगो के नाम और उम्र दर्ज की जाती है ताकि उन्हे कोई दूसरा इस्तेमाल न करे। लेकिन मै बहुत-से धनी राष्ट्रीय कार्य-कर्ताओ को जानता हू जो दूसरो का जोन टिकिट इस्तेमाल करने मे तनिक भी सकोच नही करते। पूछने पर झट जवाब मिल जाता है—"ऐसा तो सभी करते है। यह कुछ बडा पाप थोडे ही है !"

वाचनालयो और पुस्तकालयो मे भी इस बुरी आदत का दर्शन होता है। जहा कोई अच्छा चित्र देखा कि चुपचाप फाड लिया। किसी पुस्तक मे कोई खास विचार पढा कि झट वह पृष्ठ निकाल लिया। कुछ विद्यार्थी तो इस कला में पारंगत बन गये है। स्कूलो मे तो छोटे विद्यार्थी ज्यादा हिम्मत नही करते, लेकिन कालेज के विद्यार्थी तो इन कामो को बिलकुल निर्दोष समझकर बहुत आसानी से करते है। शायद बहुत-से विद्यार्थी तो किसी तसवीर या सफे को फाड लेना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते हैं।

साहित्य के क्षेत्र मे भी 'चोरी' का बाजार गर्म है। [illegible]

बन जाना चाहते है। कुछ विचार इस पुस्तक से और कुछ विचार उस पत्रिका से ले लिये और 'मौलिक' पुस्तक प्रकाशित हो गई। जिन विद्वानो से विचार लिये उनका कही भूलकर भी जिक्र नही।

दु ख की बात तो यह है कि हमारा ध्यान इन छोटी चीजो की ओर नही जाता। आखिर बूद-बूद से ही घट भरता है। अगर हमने छोटी बातो का ख्याल न रक्खा तो एक दिन पाप का घडा जरूर भर जायगा और फिर जोर से फूटेगा।

: २० :

अपनी ओर देखें !

"तुम चुपचाप अपना पाठ याद करो।" मास्टर साहब ने विद्यार्थियो से कहा। उन्हे कुछ जरूरी काम था। वे उसमे लग गये। विद्यार्थी भी पाठ पढने की कोशिश करने लगे। पढने का बहाना करने के लिए ज्यादातर विद्यार्थियो की नजर अपनी-अपनी किताब की ओर थी।

कुछ समय बाद एक विद्यार्थी उठकर बोला—"गुरुजी, देखिये कमलेश बहुत देर से खिडकी के बाहर देखरहा है, वह किताब पढता ही नही।"

"और तुम क्या कर रहे थे ?" मास्टर साहब ने मुस्करा कर पूछा। "तुम्हारी नजर किताब की ओर थी कि कमलेश की तरफ ?"

उस विद्यार्थी को कुछ उत्तर न सूझा। वह शरमा कर चुपचाप बैठ गया। सब सहपाठी हँस पडे। मास्टर साहब फिर काम मे लग गये।

अगर हम गहराई से विचार करे तो मालूम होगा कि बहुत-से लोग उस विद्यार्थी की तरह ही है। दूसरो के दोषो की ओर ही नजर फेंकते रहते हैं, लेकिन उन्हे अपने दोष देखने की फुरसत नही मिलती। हमें अक्सर अपने मित्रो की बुराइयो को कहने और सुनने का जरूरत से ज्यादा शौक होता है। अपनी ओर देखना बहुत कम लोग जानते है। अगर दूसरा हमारे नुक्सो को बतलाये तो उसे धन्यवाद देने के बजाय हमारा पारा चढ जाता है और हम उसके जानी दुश्मन बन जाते है।

भगवान् ईसा ने अपने गिरि-प्रवचन मे कहा था—"तुम अपने भाई की आंखो का तिल देखते हो, लेकिन अपनी आंखो का ताड़ नही देखते।" अफसोस है कि ईसा की इन नसीहत का ख्याल बहुत कम किया जाता है। यूरोप के राष्ट्र, जो ईसाई धर्म के मानने वाले समझे जाते हैं, उस ओर जरा भी ध्यान नही देते। वे एक-दूसरे की निन्दा करने मे नहीं थकते और अपने दोषों को हमेशा दबाने ही की कोशिश करते हैं।

अगर उन देशो की जनता वहा के अधिनायको के खिलाफ आवाज उठाती है तो उसका मुह बदूको से बन्द किया जाता है ।

अगर अपने पडोसी की निन्दा करने से हम बडे हो सके तब तो यह गाली-गलौज कुछ अर्थ रख सकता है, लेकिन बात तो उल्टी ही है। दूसरे को बुरा बताने से हम खुद बुरे बन जाते है, क्योकि हम अपने दोषो को दूर करने के बजाय उन्हे भूलने का प्रयत्न करते है ।

दूसरो को नसीहत देना बहुत ही आसान है। उपदेश देने मे सिर्फ ज़बान को चलाना पडता है और वह तो बहुत मामूली पराक्रम है । तुलसीदासजी ने भी रामायण मे लिखा है—

"पर उपदेश कुशल बहुतेरे।
जे आचरहिं ते नर न घनेरे !"

हमारा यही दुर्भाग्य है कि इस देश मे उपदेश देने वाले बहुत हैं, लेकिन उन पर खुद अमल करने वाले इने-गिने ही है । हमे यह अच्छी तरह याद रखना है कि सिर्फ बोलने वालो का राष्ट्र कभी तरक्की नही कर सकता । हमे तो काम करने वाले लोग चाहिए। ऐसे कार्यकर्त्ता चाहिए, जो अपने दोषो की ओर पहले देखते है और बाद मे समाज को सुधारने की कोशिश करते हैं।

अपनी कमियो को जानने की बात तो दूर रही, हम अपने शरीर के बारे मे भी क्या जानते है ? हम दुनिया भर के समाचार पढते है, तरह-तरह के विषयो की जानकारी हासिल करते है, लेकिन हममे से कितने लोग अपने शरीर का पूरा हाल जानते है ? कहावत भी तो है—"दिया तले अधेरा ।" दीपक चारो ओर प्रकाश फैलाता है, लेकिन अपने नीचे का अधकार दूर करने मे नाकामयाब ही रहता है ।

मोक्ष पाने के लिए कितने लोग तीर्थो की ओर जाते रहते हैं। सब तीर्थ देखने पर वे समझते है कि स्वर्ग मे उनके लिए एक कोना सुरक्षित हो जायगा ! साधु और महात्माओ के दर्शन करने का मौका बहुत कम लोग छोडते है । लेकिन हमें यह नही मालूम कि सुख और शान्ति का झरना हमारे अदर ही है । अगर हम अपने मन और हृदय को पवित्र कर सके तो फिर तीर्थों मे भटकने की जरूरत ही न रहेगी !

: २१ :

'रेलवे के चूहे'

कल ही तो मेरी एक रेलवे पार्सल आई । भाई ने बम्बई से कुछ मेवा-मिठाई भेजी थी । पार्सल देखते ही कुछ ऐसा लगा कि रास्ते में उस पर शायद हाथ साफ किया गया है । खोल कर देखा तो कोई गडबड न दिखाई दी । पर जब भाई के पत्र से भेजे गए सामान की सूची मिलाई गई तो तुरन्त पता लग गया कि मेवा और मिठाई की सबसे उम्दा किस्मे तो गायब ही है । बडा बुरा लगा । गुस्सा भी आया । लेकिन कोई चारा न था । पार्सल खोल लेने के बाद शिकायत करना बिलकुल बेकार था और वैसे भी रेलवे वालो की कारस्तानियो पर ऊचे अधिकारी ध्यान ही कब देते हैं ?

कुछ दिन पहले मैने अपने चाचाजी को फल की एक पार्सल भेजी थी । उसमे ज्यादातर तो सन्तरे और मौसम्बी ही थी । कुछ हरे अजीर और चीकू भी रख दिये थे । बस रेलवे के बाबुओ ने उन्ही के ऊपर अपने दात चला दिये थे और सभी अदद खाकर हजम कर गये ।

मेरे एक मजाकिया दोस्त ने रेलवे के उन बदतमीज और बेशर्म कर्मचारियो का नाम 'रेलवे के चूहे' रखा है । नाम है दिलचस्प, पर ये चूहे सचमुच गणेशजी के वाहन बनने लायक है । डील-डौल तो पूरा रहता ही है, चुस्त और चालाक भी होते है । अच्छी, जायकेदार और कीमती चीजो पर ही अपनी नजर डालते है । मामूली माल को तो वे कौडी-मोल गिनते है । अपनी दुनिया के वे पूर्ण बादशाह है । उनसे जवाब तलब करने वाला कोई नहीं, क्योकि ऊपर से नीचे तक सभी गाऊ-मटे जो है । चोर-चोर मौसेरे भाई ।

घर से मैने कुछ पुरानी किताबे और अपने कालेज-जीवन के समय की नोट-बुक मगाई थी । एक सदूक मे भर कर पार्सल की गई । मालूम

ताला भी लगा दिया गया था। इन चूहो से वह ताला तो न टूटा, पर सन्दूक का कुन्दा उन्होने तोड ही डाला। इत्तफाक से सन्दूक के चारो ओर रस्सी भी बधी हुई थी। इसलिए किताबे रास्ते मे गिरी नही। "चूहो" ने सन्दूक को खोला तो होगा वडी आशा से। सोचा होगा कि कुछ माल है, लेकिन सिर्फ किताबे-ही-किताबे देखकर बेचारो का दिल ठडा पड गया होगा। रेलवे के ये चूहे वैसे तो बडे होशियार और चलते-पुरजे रहते है, पर मालूम होता है कि उनकी सूंघने की शक्ति उतनी तेज नही रहती। नही तो वे शुरू मे ही इस सन्दूक की ओर फूटी आखो भी न देखते।

हकीकत तो यह हे कि रेलवे के ये कारकून चूहे क्या, पूरे गुडे ही होते है। पार्सल कराने जाइये तो उनको दक्षिणा चाहिए, नही तो आपकी पार्सल कई दिनो तक 'बुक' ही नही की जायगी, या बुक होने के वाद भी कुछ दिनो तक पडी रहेगी। पार्सल छुडाने वालो को इन चूहो को खुश रखना पडता है, नही तो "पार्सल अभी नही आई है," और फिर हमे डेमरेज भरना पडता हे। कभी-कभी तो ये लोग कई दिन पार्सल पडी रख कर उसे सस्ते दामो मे अपने यार-दोस्तो को नीलाम कर डालते है। और शिकायत करिये तो सुनने वाला कौन हे! तीन महीने तो आपकी शिकायत मिलने का कार्ड आता है। लिखा रहता हे— "आपकी शिकायत की ओर ध्यान दिया जा रहा है।" आप फैसले की राह देखते ही रह जाते है। फिर तकाजा करे तो भी उसका जवाब कई महीने वाद मिलता है। वह अक्सर नकारात्मक होता हे, यह कहने की जरूरत नही। कानूनन् आप छ महीने के अन्दर रेलवे का मामला कचहरी मे दायर कर सकते है। लेकिन रेलवे के कर्मचारी तो इतना समय पत्र-व्यवहार मे ही खपा देते है। समय निकलने के बाद आप चाहे तो भी दीवानी दावा नही कर सकते। अगर उन पर मुकद्दमा चलाया भी गया तो उनकी शैतानियो का सबूत मिलना भी कठिन होता है। इस हिकमत मे तो वे पक्के रहते है। कही पकड मे न आवे इसका पूरा प्रवन्ध पहले से ही कर लेते है। और रेलवे के कानून मे उनके निकल भागने के लिए गुजाइश भी भरपूर रख दी गई है।

कहते हैं एक दफा एक सेठजी के यहां शादी-विवाह के अवसर पर बडी दावत हुई। पत्तलें भर कर मिठाई परोसी गई। मेहतरो की खूब बन आई। सेरो मिठाई जूठन मे मिली। एक मेहतर ने मिठाई की पार्सल बनाकर अपने दूसरे रिश्तेदार के यहा भिजवा दी। उसका रिश्तेदार जब पार्सल छुडाने आया तो रेलवे के चूहे मिठाई पर खूब दात चला रहे थे। भंगी को देखकर उन्होने पूछा—

"क्या है, रे ?"

"हजूर, एक पार्सल है।" उस रिश्तेदार ने हाथ जोडकर जवाब दिया।

"तेरी पार्सल ?"

"जीहा, यह देखिये रसीद।"

"हूँ! तेरे पास इतनी मिठाई किसने भेजी?"

"साहब, किसी सेठ के यहा दावत हुई थी। मेरे एक सम्बन्धी ने भिजवाई है। सुना जूठन बहुत फिकी।"

बेचारे चूहे "थू-थू," 'राम-राम" करने लगे। तोबा किया, पर वह तोवा कितने दिन टिका, कौन जाने!

इन रेलवे वालो के खिलाफ तो एक जिहाद उठाने की जरूरत है। उन्हे इस तरह लोगो को लूटने की छूट मिले यह तो बहुत अनुचित है। उन्हे तो दूसरो की जूठन शायद जन्म मे एक-दो बार ही खाने का मौका आता हो, पर लोगो को तो उनकी बची जूठन रोज ही खाने की नौबत आती है। डाक का भी ऐसा ही महकमा है। वहां भी सारा कारबार रोज-ब-रोज चलता है। पर डाक-विभाग मे कितनी ईमानदारी और लगन मे काम किया जाता है। पोस्ट-पार्सलें कितनी हिफाजत से हमारे पास आती हैं। उनका बाल बाका भी नही होता। अगर उनको रास्ते मे जरा भी धक्का लग जाता है तो हमारे पास फौरन सूचना आ जाती है कि खुद आकर पार्सल छुडा ले। अगर हमे कोई शिकायत करनी हो तो लिफाफे पर पहले तो स्टाम्प भी नही लगाना पडता था। शिकायत की ओर फौरन ध्यान दिया जाता है। उसे दूर करने की पूरी कोशिश भी की जाती है। अगर अनजाने कोई नुकसान हो गया हो तो

उसके लिए खेद भी प्रकट किया जाता है। डाक-विभाग को जनता की सेवा करने का हमेशा ख्याल रहता है।

अगर चिट्ठियो पर पता ठीक न हो तो भी पोस्ट-आफिस के कर्मचारी पता लगाने का भरसक प्रयत्न करते है। यदि फिर भी कामयाबी न हो तो 'डेडलेटर आफिस' मे उस पत्र को भेज देते है, वहा एक बार फिर कोशिश की जाती है और सफलता न मिलने पर वह चिट्ठी लिखने वाले के पास एक बडे लिफाफे मे बद करके वापस भेज दी जाती है। मामूली चिट्ठिया पहुचने या न पहुचने की कानूनी जिम्मेदारी डाक वालो पर नही रहती, जबतक उनकी रजिस्ट्री न की गई हो। फिर भी हमारे पत्र कही बीच मे गडबड हो जाय तो पोस्ट आफिस उनकी पूरी जाच कर लेता है।

एक दिन मै गाधीजी के पास बैठा हुआ था। उन्होने एक पत्र दिखाया, जिस पर पता लिखा था—

पू० महात्मा गाधी,
सेवाग्राम, वर्धा,
जिला अहमदाबाद—गुजरात

लेकिन वह लिफाफा सीधा वर्धा ही आ गया। पोस्ट के कारकूनो ने कुछ अक्ल से काम लिया। कोरा रूटीन अदा करके ही अपनी बला नही टाली।। गाधीजी ने इस सिलसिले मे एक और घटना सुनाई। कुछ साल पहले उनके पास यूरोप के किसी देश से एक लिफाफा आया था, जिस पर उनका एक अखबार से काटा हुआ मामूली चित्र चिपकाया गया था और नीचे 'हिन्दुस्तान' लिख दिया गया था। नाम नही लिखा गया था। शायद गाधीजी के किसी भक्त ने वह चिट्ठी भेजी थी। उस बेचारेको नाम के सही हिज्जे भी शायद न मालूम थे, पता तो वह जानता ही न होगा। लेकिन वह चिट्ठी गाधीजी के पास सीधी पहुचा दी गई। खैर, गाधीजी तो एक जगत-विख्यात पुरुष थे, लेकिन इस तरह की कार्य-कुशलता डाक-विभाग मे हमे अक्सर देखने को मिलती रहती है।

आखिर ये रेलवे वाले ही इतने लापरवाह, गैरजिम्मेवार और बेईमान क्यो है? आजकल तो करीब सभी रेलवे कम्पनिया भारत

सरकार की हो गई है। लेकिन मालूम होता है कि शुरू में जब ये कम्पनियां अंग्रेज व्यापारियों के हाथ में थीं तभी के कानून अभी तक चले आ रहे हैं। उस जमाने में तो रेलवे वालों को जनता के हित और आराम का कोई ख्याल ही न था। उन्हें तो बस अपने लाभ की चिंता रहती थी। उनके कर्मचारियों को इतने ही तक काबू में रखने की आवश्यकता थी कि कम्पनी का किसी तरह नुकसान न हो। लेकिन अगर वे लोगों की पार्सलों पर हाथ साफ करते रहें या उनसे अपना कमीशन वसूल करें तो कम्पनी की बला से। जनता उनकी तारीफ करे या बदनामी, इससे उन्हें कोई सरोकार न था। सरकार की ओर से उनकी लागत पर काफी सूद मिल जाने की भी गारंटी थी। फिर जनता की शिकायतों को सुनने और अपने कारकूनों को डांट-डपट में रखने की उन्हें पड़ी ही क्या थी ? रेलवे के सारे नियम भी इसी दृष्टि से बनाये गये थे कि उनके नौकर दुनिया भर की शैतानी करके भी किसी के चंगुल में न फंस सकें।

और वे ही कायदे-कानून शायद आज भी चल रहे हैं। सरकार ने कम्पनियों को खरीद कर भी उन्हें सुधारने की कोशिश नहीं की है। पुराने हथकंडे चालू हैं। कर्मचारियों के दोषों की ओर अब भी ध्यान नहीं दिया जाता। सारे विभाग की परम्परा ही बिगड़ गई है और उसे दुरुस्त करने की सख्त जरूरत है।

: २२ :

क़तार बनाइये

अपने कालेज-जीवन का स्मरण हो आता है। महीने मे एक दिन फीस चुकानी पडती थी। दिन और वक्त बधा हुआ था। बड़ी भीड़ लग जाती थी। सभी विद्यार्थी जल्द-से-जल्द फीस देकर पिंड छुड़ाना चाहते थे। क्लर्क की खिडकी के सामने जमघट हो जाता था। एक विद्यार्थी फीस चुका कर हटा कि तीनो ओर से रेला आता था। जिसने फीस दे दी उसे फिर उस भीड मे से बाहर निकलना भी दुश्वार हो जाता था। बेचारे की टोपी इधर गिरती और हाथ की किताबें उधर। दुबला-पतला हुआ तो हड्डियो की भी पूरी आजमाइश हो जाती थी। कुछ मोटे-ताजे, हट्टे-कट्टे विद्यार्थियो की मौज थी। कभी भी आ जाते और जोर का धक्का देकर, दूसरो को इधर-उधर हटाकर, खिडकी के पास पहुच जाते। पर मेरी तो उस दिन मानो शामत ही आ जाती। वह दिन और वक्त चूक जाय तो फिर कई दिन तक फीस चुकाने का मौका नही मिल सकता था, क्योकि जुदा-जुदा क्लास के विद्यार्थियो के दिन मुकर्रर थे। उस दिन दूसरे किसी भी वर्ग की फीस नही ली जाती थी और फीस न दे पाये तो रोज जुर्माना होता था।

मै इस कशमकश और मल्ल-युद्ध से घबड़ा जाता था। मैं तो एक तरफ खडा रहता और जब भीड छँट जाती तभी फीस चुकाता। पर बहुत-सा वक्त बरबाद होता और काफी परेशानी उठानी पडती। खडा-खडा सोचता, अगर हम विद्यार्थी भी अपनी-अपनी फीस ठीक ढग से नही दे सकते तो फिर मामूली अनपढ लोग स्टेशनो पर टिकिट खरीदने मे धक्का-मुक्की करे उसमे क्या आश्चर्य ! सुना था इगलैण्ड में कतार बनाने का रिवाज है। एक के पीछे एक खडे होते जाते हैं। जो सबसे पहले आया वह सबसे आगे, जो सबसे बाद आया वह सबसे

पीछे। एक-दूसरे को कोई धक्का नही देता। न कतार तोड़ कर बीच में कोई आ खडा हो सकता है। काश ! वैसा इतजाम हमारे कालेज में भी हो जाय। बस यही ख्याल फीस के दिन हर महीने दिमाग मे आते। पर हर वक्त वही तजुर्बा और वही परेशानी।

कुछ साल बाद जब खुद इगलैंड जाने का मौका मिला तो वहा का कतार बनाने का रिवाज देख कर बडी खुशी हुई। अग्रेजी में इसे "क्यू-सिस्टिम" कहते हैं। जानने, सीखने और अमल मे लाने लायक रिवाज है। कही भी कई लोगो को एक जगह एक ही काम करना हुआ तो कतारे लग जाती है। जो बाद मे आता है वह चुपचाप लाइन के पीछे खड़ा हो जाता है। एक तरफ से लोग आकर पीछे खडे होते जाते हैं और दूसरी ओर से जिनका काम पूरा हो जाता है वे निकलते जाते है। न जाने वालो को कोई दिक्कत, न आने वालो को, न क्लर्क को।

स्टेशन पर जाइये तो टिकिट-घर के सामने कतार खडी मिलेगी। न कोई शोरगुल, न धक्का-मुक्की। सभी का काम बडी शान्ति से हो जाता है। टिकिट देने वाले क्लर्क भी बडे चुस्त रहते है। एक मशीन पर उगली रखी कि सामने टिकिट गिर पडता है। दूसरी मशीन पर हाथ चलाया कि रेजगारी सामने आ जाती है। दो-तीन सैकिंड मे एक-एक को टिकिट मिलता जाता है। किसी को भी ज्यादा देर इतजार नही करना पडता।

'बस' पर चढना हो तो आपको स्टैंड पर लोग कतार मे खडे मिलेंगे। जब मोटर आती है तो एक-एक आदमी उस पर चढ़ता है। सब एक साथ घुसने की कोशिश नही करते। अगर मोटर मे थोड़े लोगो की जगह खाली हुई तो कतार के आगे के उतने ही चढ पायेंगे और बाकी के दूसरी बस की राह देखेंगे। औरत हो, चाहे आदमी—सभी इस नियम का पालन करते है। कोई भी बीच मे कतार तोड़कर नही जा सकता और अगर बीच मे ही कतार से चले गये तो दुबारा जगह नही मिलेगी। फिर तो कतार की 'पूछ' के आखिर मे ही जाकर खडा होना पड़ता है।

यही हाल सिनेमा और थियेटर के टिकिट-घर के सामने है। कभी-कभी तो सिनेमा-घर के चारो ओर इतनी लम्बी कतार बन जाती है कि

उसकी 'पूछ' ढूढ निकालना एक समस्या हो जाती है। और घटो खडे रहने पर भी अगर सिनेमा-घर मे कतार की सख्या के लिहाज से कम जगह हुई तो पीछे के लोगो को फिर दूसरे 'शो' के लिए खडा रहना पडता है। स्त्रिया भी घटो खडी रहती है। कोई किताब पढती रहती है, कोई अखबार। बीच-बीच मे भूख लगने पर अपने बेग मे से चाकलेट और डबलरोटी के टुकडे निकाल कर खा लेती है। पर अपनी जगह से नही हटती। अगर हटी तो जगह गई। जब टिकिट-घर खुलता है तो कतार धीरे-धीरे रेंगने लगती है। कतार मे खडे स्त्री-पुरुषो के मनोरजन के लिए कुछ भिखारी भी अक्सर आ जाते हैं। कोई गाना गाता है तो कोई कागज पर कारटून बना-बना कर लोगो को दिखलाता है। कोई खडिया से जमीन पर ही चित्र बना देता है। कोई अपने कुत्ते के खेल-तमाशे दिखलाकर लोगो का दिल बहलाता है।

डाकघर मे इसी तरह की कतारे खडी मिलेगी। एक मनीआर्डर की खिडकी के सामने, दूसरी तार की खिडकी के सामने, तीसरी रजिस्ट्री के लिए और चौथी स्टाम्प और पोस्ट-कार्ड खरीदने के लिए। बिलकुल शोर नही, कोई झझट नही। सारा काम बडे आराम और अमन से चलता रहता है।

टैनिस या फुटबाल का मशहूर मैच देखने के लिए लोगो की बडी भीड लगती है, पर वहा भी वही 'क्यू' अर्थात कतार। टिकिट खरीदने के लिए रेज़गारी आफिस की खिडकी के सामने भी उसी तरह की कतार लग जाती है।

गर्जेकि जीवन के सभी तरह के काम-काज मे इस 'क्यू' प्रथा का चलन है। कितना अच्छा रिवाज है! उस देखकर अपने कालेज-जीवन के वह फीस देने के दृश्य याद आये बिना न रहे।

शुरू मे तो औरतें अपना विशेष अधिकार समझ कर कतार के बीच मे भी खडी होती थी। चद रसीले नौजवान उन्हे जगह भी दे देते थे। बूढ़े भी उनका लिहाज करते थे, पर औरो को स्त्रियो का यह हक नागवार गुजरता था। वे कतार के नियम क्यो तोडे? इस तरह से तो यह रिवाज़ ठीक तौर से जारी नही रह सकता था। चुनाचे धीरे-धीरे

औरतो का कानून तोडना भी बद हो गया। अब तो अगर कोई रंगीला रसूल औरत को जगह देना भी चाहे तो दूसरे उसे ऐसा नही करने देंगे। किसी का भाई या पिता या और कोई रिश्तेदार आना चाहे तो उसे भी 'क्यू' तोडकर नही लिया जा सकता। अलबत्ता वह अपना स्थान खाली कर उसे अवश्य दे सकता है। लेकिन ऐसा बहुत कम होता है। मामूली तौर से तो सभी लोग आकर एक के पीछे एक खडे होते जाते है। कोई लिहाज़ और मुरव्वत नही। इसी मे सबकी सुविधा है। इसी मे न्याय और औचित्य है।

कतार बनाने का यह नियम तो अग्रेजो की रग-रग मे समा गया है। वह उनका स्वभाव ही बन गया है। शुरू मे पुलिस की देख-भाल और मदद लेनी पडती थी, क्योकि सभी नागरिक अपनी जिम्मेवारी महसूस नही कर सकते थे। लिहाजा कभी-कभी झगडे और "तू-तडाक" की भी नौबत आ जाती थी। पर आहिस्ता-आहिस्ता लोगो ने कतार बनाने की प्रथा का फायदा और भलाई समझ ली। छोटे बच्चो को स्कूल से ही इसकी आदत पड जाती है। अब पुलिस की बिलकुल आवश्यकता नही पडती, न उसकी जरूरत किसी को महसूस होती है। लोग खुद अपने-अपने अधिकार की रक्षा कर लेते है।

आप यह न समझें कि यह प्रथा यूरोप के सभी देशो मे है। रूस में तो वह जारी कर दी गई है, शायद जर्मनी मे भी। और भी कुछ मुल्को में उसका चलन होगा। पर सब देशो मे उसका रिवाज नही है। फ्रास की जानकारी तो मुझे है। वहा मुझे अपनी हिन्दुस्तानी धक्कामुक्की ही देखने को मिली। आश्चर्य भी हुआ, खुशी भी कि चलो, यह हाल सिर्फ हमारे ही देश में नहीं है।

हिन्दुस्तान मे इस प्रथा का श्रीगणेश तो हो गया है। कलकत्ते की मशहूर फुटबाल मैच देखने वालो ने कतार बनाना सीख लिया है। बडे-बडे शहरों की रेलवे स्टेशनों पर टिकिट-घरो के सामने भी कतार बनाने के लिए कुछ इन्तजाम किया गया है। कहीं-कहीं पुलिस भी खडी रहती है, पर लोगो को उसका ठीक शिक्षण अभी तक नहीं मिला है। पुलिस के लोग भी उसका महत्व नहीं समझते। उम्मीद है

कि जनता इस प्रथा को पूरी तरह अपना लेगी और उसको चालू रखेगी।

पर इस रिवाज को स्थाई रूप से जारी करने के लिए यह जरूरी है कि बच्चो को शुरू से ही स्कूलो मे उसकी आदत डलवा दी जाय। अगर स्कूलो और कालेजो मे उसकी शुरुआत कर दी जाय तो कुछ दिनो बाद वह हमारे सामाजिक जीवन का आम रिवाज बन जायगा। फिर पुलिस की भी जरूरत न होगी। बेचारे विद्यार्थियो को फीस देते वक्त अपनी हड्डी-पसलियो की आजमाइश न करनी पडेगी। आज की धक्कम-धक्का तो हमारे लिए सचमुच लज्जास्पद है।

: २३ :

हम हिन्दुस्तानी बनें

हमने पश्चिम के देशो की काफी नकल कर ली है। उनके रहन-सहन, आचार-विचार का बहुत अनुकरण किया है। अपनी भाषा को भूल कर विदेशी भाषा को दिल खोलकर अपनाया है। अपने देश के गौरव को नीचा समझ कर दूसरे मुल्को की ओर लालच की नजर से देखा है। लेकिन अब हमे अपना ढग बदलना होगा। हमे अपनी जिन्दगी को दूसरी तरह ढालना होगा। हमको दूसरे लोगो की नकल छोड़कर अपनेपन को ढूढना होगा। अपने देश की खासियतों को समझ कर उन्हे अपनी जिन्दगी का हिस्सा बना लेना होगा। अगर थोड़े मे कहा जाय तो हमे हिन्दुस्तानी बनना होगा।

इसका यह मतलब हरगिज नही कि हम दूसरे देशो से नफरत करने लगे और उनकी अच्छी-अच्छी बातो को हासिल करने की कोशिश न करे। इसका यह भी मतलब नही कि हम अपने मुल्क की बुराइयो को भी अच्छा समझ कर उन्हे सुधारने का प्रयत्न न करे। ऐसा करने से तो हम अपने आपको और अपने देश को बरबाद कर देगे। हिन्दुस्तानी बनने के यह माने हैं कि अपने रीति-रिवाजो को, आचार-विचारो को पूरी तौर से समझने की कोशिश करें। अगर उनमे कुछ बुराइयां हैं तो उन्हे दूर करने का यत्न करे। लेकिन अपनी संस्कृति या तहजीब को भूलकर या निकम्मी समझ कर दूसरे देशो की नकल करते-करते अपनेपन को न खो बैठें।

दुनिया की हरएक चीज मे कुछ-न-कुछ खास गुण होता है। यह बात पौधों, आदमियों, जानवरों सभी में पाई जाती है। और यह अच्छा ही है। अगर एक बाग मे सभी फूल एक-से हो तो कुछ रौनक न रहेगी। बगीचे में तरह-तरह के फूल होने से ही हरएक फूल अपनी-

अपनी निराली खुशबू फैला कर लोगो को खुश करता है। इसी तरह हरएक देश की सभ्यता या तहजीब से कुछ-न-कुछ खास सिफ्त होती है। उसका विकास करना जरूरी है, नही तो इसका यह मतलब हो जाता है कि उस देश के लोग ईश्वर की दी हुई एक खास सिफ्त को ठुकराते है। हमारे हिन्दुस्तान मे भी कुछ खास गुण पाये जाते है। उन्हे समझ कर उनकी तरक्की करना और उन गुणो को अपने जीवन का हिस्सा बना लेना हरएक हिन्दुस्तानी का फर्ज हो जाता है।

"हम हिन्दुस्तानी बनें"—यह सदेश हमे हिन्दुस्तान के हरएक बच्चे नौजवान और बूढे तक पहुचाना चाहिए। हम गुलामी के आदी बन कर अपने-आपको और कौमो से नीचा समझने लगे है। इसलिए सच्ची आजादी पाने के लिए हमे सबसे पहले अपने मन और हृदय को दीनता के गड्ढे से निकालना होगा, अपना सिर ऊचा करके हिन्दुस्तान की सेवा मे लग जाना होगा, ताकि हमारा देश उन्नति करके दुनिया के बगीचे मे अपनी निराली खुशबू फैला सके।

हम अपनी पुरानी गावो की जिन्दगी छोड कर पश्चिम के देशो की तरह शहरो की ओर जा रहे है। अपने हाथो से काम करने के बजाय मशीनो के पीछे दीवाने हो गये हैं। आखिर इन सब बातो का नतीजा क्या होगा ? वही जो आज यूरोप मे हो रहा है—खून की नदिया बहा-कर मनुष्यो की भयकर बरबादी !

हम अपनी भाषाओ को तुच्छ समझ कर अग्रेजी के पीछे दीवाने हो गये है। अग्रेजी मे ही हम आपस मे बोलना पसन्द करते हैं, चाहे कितनी भद्दी अग्रेजी क्यो न बोली जाय। अग्रेजी भाषा अच्छी है, उसमे साहित्य भी अच्छा है, लेकिन इसका यह मतलब नही कि हम अपनी मातृभाषा या राष्ट्र-भाषा की जगह अग्रेजी को ही सीखने की कोशिश करे। ऐसा न कभी हुआ है और न हो सकता है। अगर हम अग्रेजी को जरूरत से ज्यादा अपनाने का इरादा न छोडेगे तो हमारी मूर्खता की दुनिया के सामने नुमायश होगी !

हम एक बडी कौम के छोटे लोग हैं। हमने अपने देश को अपनी सहूलियत के लिए छोटे-छोटे टुकडो मे बाट लिया है। जात-पात और

धर्म के हिसाब से हम बहुत से हिस्सों में बट गये है। लेकिन यह तरीका ठीक नहीं है। इससे तो हमारा देश कमजोर होगा। हमको भूल जाना होगा कि कौन ब्राह्मण है और कौन हरिजन, कौन है हिन्दू और कौन मुसलमान या ईसाई। हम न भूलें कि इस देश का हर बाशिन्दा पहले हिन्दुस्तानी है और बाद में हिन्दू, मुसलमान या ब्राह्मण या शूद्र। अगर हम ऐसा न कर सके तो आजादी पाने से क्या लाभ ?

: २४ :

साहित्य और जीवन

हम अक्सर सुनते है कि साहित्य को राजनीति से दूर रखना आवश्यक है। साहित्य-सम्मेलनो मे राजनीतिज्ञो को देखकर हमारे साहित्यकार नाराज हो जाते है और उनका बहिष्कार करने की कोशिश करते हैं। अगर इस भावना का यह अर्थ है कि साहित्य मे राजनीति की तरह गुटबदिया न हो तब तो वह सभी को मान्य होगी। किन्तु अगर इसका यह मतलब हे कि हमारे साहित्य-सेवी देश की राजनैतिक हलचल और सघर्ष से दूर भाग कर अपनी एक निराली कल्पित दुनिया मे रहना चाहते हैं तो यह खेद की बात है। यहा मै राजनीति को व्यापक अर्थ मे इस्तेमाल कर रहा हू। राजनीति मे मेरा मतलब राजनैतिक दलो और चुनावो से नही, किन्तु सामान्य लोक-जीवन से है। चूकि लोक-जीवन और राजनीति पृथक नही किए जा सकते, इसलिए कोई भी साहित्य-सेवी देश की राजनैतिक परिस्थिति की अवहेलना नही कर सकता।

साहित्य का लोक-जीवन से तो अटूट सम्बन्ध है ही, किन्तु साहित्य और साहित्यकारो के जीवन के सम्बन्ध का महत्व हममे मे बहुत कम लोगो ने सोचा और समझा है। "कला कला के लिए", "साहित्य साहित्य के लिए" के विरोध मे "साहित्य और कला जीवन के लिए" की आवाज बहुत लोगो ने उठाई है। किन्तु हमको अब एक कदम और बढाना होगा, और वह है—"जीवन, साहित्य और कला के लिए।" साहित्य तो जीवन का एक रूप है, ढग है। हमे अपने जीवन को इतना शुद्ध और सुन्दर बनाना है कि उसी मे साहित्य और कला की झलक मिल सके। साहित्य और कला के नाम पर हम अपने व्यक्तिगत जीवन, रहन-सहन और शिष्टाचार को ठुकरा नही सकते। साहित्य और कला तो जीवन की एक दृष्टि (attitude towards life) है। अगर हमारा जीवन

कला और साहित्यमय नही है तो हम साहित्यकार कहलाने योग्य नही वन सकते।

आखिर साहित्य है क्या चीज़ ? वह तो हमारे जीवन की चिनगारी है। हमारे चारो ओर ससार मे सघर्ष और कशमकश है। हमारे अदर सुख-दुख, आशा-निराशा, प्रेम, द्वेष, भावना और तर्क का सनातन सघर्ष है। जिस प्रकार दो पत्थरो के ज़ोर से रगडने पर चिनगारिया पैदा हो जाती हैं उसी तरह हमारे आत्मचिंतन और साधना से हमारा अदरूनी सघर्ष बढता है और चिनगारियो के रूप मे हमारे अत.करण से कला और साहित्य का जन्म होता है। इसी प्रकार का साहित्य जीवित और जिन्दादिल साहित्य वन सकता है। कशमकश और आत्म-चितन की चिनगारिया तो बहुत से व्यक्तियो के अदर पैदा होती है, किन्तु जो व्यक्ति इन चिनगारियो को सुदर और स्वाभाविक ढग से व्यक्त कर सकते है और अपनी अभिव्यक्ति की शक्ति के कारण दूसरे व्यक्तियो मे भी उसी प्रकार की चिनगारिया पैदा कर सकते है, वे कलाकार अथवा साहित्यकार कहलाये जाते हैं। लेकिन जिस व्यक्ति मे जीवन-साधना और आत्म-निरीक्षण के अभाव से चिनगारिया ही उत्पन्न नही होती, वह साहित्य का निर्माण कैसे कर सकेगा ?

एक पौधे ही को देखिए। वह अपनी जीवन-शक्ति के कारण खाद, पानी और सूर्य की किरणो से पोषण ग्रहण करके स्वाभाविक और सुदर रूप से बढता और ससार को ललित और सुरभित पुष्प अर्पण करता है। इसी प्रकार एक साहित्यकार का विकास होना चाहिए। अगर वह अपनी जीवन-तपस्या और साधना से लोक-जीवन के संघर्ष को आत्म-चितन-द्वारा पचा सके तो उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि होगी, जो दुनिया को अधिक सम्पन्न बनाकर ऊचा उठा सकेगा और जनता के जीवन में एक नई दृष्टि उत्पन्न कर सकेगा। ऐसे साहित्य-सेवियो का जीवन ही जीता-जागता साहित्य बन जाता है। यह उनी साधना और तपस्या का चमत्कार है कि तुलसी, सूर, कबीर और मीरा हिन्दी-साहित्य-गगन के गौरवपूर्ण नक्षत्र बन सके है और मानव-जीवन को अपने साहित्यरूपी प्रकाश से आलोकित कर रहे हैं। कविवर रवीन्द्र की ख्याति और प्रभाव

का भी यही रहस्य है। रोम्या रोला और टाल्स्टाय अपनी जीवन-साधना के कारण ही आज ससार के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकारो मे गिने जाते है।

जिस प्रकार एक सुदर और सुविकसित फल मे से सुदर सुगध अनायास ही बहती है, जिस तरह पवित्र ज्योति मे से प्रकाश सहज ही चारो ओर फैल जाता है और जिस प्रकार शैलो की बर्फ से ढकी हुई ऊची-ऊची शिखरे स्वभावत सरिताओ को जन्म देती है, उसी प्रकार एक साधक, तपस्वी और कलाकार के अन्त करण से श्रेष्ठ, सुरुचिपूर्ण और गौरवशाली साहित्य का प्रादुर्भाव होता है। अगर हमारा जीवन गदा है, अव्यवस्थित है, चरित्रहीन और असयत है तो हम कभी उत्कृष्ट साहित्य और कला के जनक नही बन सकते। हमारा साहित्य कागज और कपडे के नकली फूलो की तरह होगा जो सुरभि-हीन हैं। हम अपने जीवन की गदगी को अपनी साहित्य-कृतियो से उसी प्रकार छिपाना चाहते है जिस प्रकार कुरूप स्त्रिया अपने कालेपन और भद्देपन को पाउडर से ढकना चाहती है। लेकिन सत्य की प्रखर ज्योति के सामने यह भद्दापन कबतक छिपा रहेगा !

लोग अक्सर नामी कवियो और लेखको के 'दर्शन' बडे आदर-पूर्वक करने जाते है, किन्तु बहुधा उन्हे साहित्यकारो की जिन्दगी को पास से देखकर निराश और चकित होना पडता है। कुछ लोग मन को समझाने के लिए सोच लेते हैं कि शायद इसी प्रकार का असयत और मर्यादा-रहित जीवन कला और साहित्य के निर्माण के लिए जरूरी है। किन्तु इस तरह के विचारो को फैलाना जनता को भ्रम मे डालना है। जिस व्यक्ति के आचार-विचार मे सामजस्य नही है, वह बेसुरे सितार की तरह ही रहेगा। इसलिए अगर किसी साहित्यकार का जीवन अशुद्ध है तो मै उसकी साहित्य-कृतियो को, चाहे वे ऊपर से देखने मे कितनी ही सुदर क्यो न हो, बिलकुल महत्व देने को तैयार नही हू। जिस नदी का उद्गम ही गदा है, उसकी धारा स्वच्छ और पवित्र कैसे हो सकती है ?

साहित्य-निर्माण के लिए कठिन तपस्या चाहिए। हमे अपनी इद्रियो को और मन को वश मे करना पडेगा, अपने जीवन को शुद्ध बनाकर आचारो और विचारो मे सामजस्य स्थापित करना होगा। जब बालक

ध्रुव ने अखंड तपश्चर्या की तब देव के काव्यमय शंख ने उनके कपोलों को स्पर्श किया और उसके मुख मे चमत्कारी काव्य का श्रोत बह निकला। तुकाराम को शुद्ध और साधनामय जीवन के कारण ही अभंग-वाणी का वरदान प्राप्त हुआ। शुद्ध और उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण करने के लिए हमे भी अपने जीवन का ढंग बदलना होगा, आत्मनिष्ठ और चरित्र-वान् बनना होगा। हमे सर्वप्रथम मनुष्य बनना पडेगा, मानवता के गौरव को समझना होगा। बाद मे कला और काव्य अनायास ही हमारे जीवन मे निकलेंगे।

ईशावास्योपनिषद मे कवि के गुणो का इस प्रकार वर्णन किया गया है :

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

इस श्लोक के अर्थ का जितना भी मनन किया जाय उतना ही वह हमारे लिए लाभकारी सिद्ध होगा।

: २५ :

विनोद की फुलझड़ियां

आप ख्याल करते होगे कि गाधीजी हमेशा बहुत गम्भीर रहते थे, कभी मजाक वगैरा तो करते ही न होगे, मुस्कराते भी बहुत कम होगे। मगर आपका यह विचार बिलकुल गलत निकले तो आपको खुशी होगी या रज ? अगर आप पत्थर के सजीदा और सदा एक-सा चेहरा रखने वाले देवो को ही पूजने के आदी है तब तो शायद आपके दिल को काफी धक्का ही लगेगा। लेकिन आप अगर जिन्दा-दिल और ताजा दिमाग है तो आपकी खुशी होनी चाहिए, क्योकि महात्मा लोग मुश्किल से ही हँसमुख और विनोदी पाये जाते है गाधीजी तो साफ कहते भी थे—"विनोद ही मेरा जीवन है। उसके विना इतने दिनजीना मेरे लिए दुश्वार हो जाता।"

दुनिया मे दौलत की बहुत कीमत है—जरूरत से भी ज्यादा। अक्ल और इल्म की भी पूरी अहमियत है। तन्दुरुस्ती और खूबसूरती का मूल्य है। अच्छे स्वभाव और उदार-दिली की कद्र है। ओहदो और समाज मे ऊची हैसियत की भी वकत है। लेकिन विनोद के बिना ये सारे गुण फीके ही रह जाते है, जिन्दगी मे जायका नही रहता। विनोद की कीमत आकना आसान नही। उसके द्वारा वे काम किये जाते है, जो लाखो रुपयो से भी पार नही पडते। उसके जरिये लोगो के दिलो को अपनी ओर खीच सकते है, उन्हे हम-राय बना सकते है। हम दूसरो को भी प्रसन्न रख सकते है और खुद भी हर हालत मे सुख-दुख के झोके झेलते हुए प्रसन्न रह सकते है।

काफी पुराने जमाने की बात है। इगलेड मे इलेक्शन-बाजी की काफी धूम थी। नरम और गरम दलो के बीच खासी होड थी। लॉयड-जार्ज अपने चुनाव के लिए भाषण दे रहे थे। हाल खचाखच भरा था।

अपने भाषण के आखिर मे वे जोर से बोले

"मै सब देशो के लिए आजादी चाहता हू—इगलैड के लिए भी पूर्ण आजादी, यूरोप के मुल्को के लिए आजादी, हिन्दुस्तान के लिए आजादी।"

इतने मे एक आदमी, जो नरम दल का था और जिसे हिन्दुस्तान की आजादी की बात सुनते ही बुखार आ जाता था, अचानक खडा होकर गुस्से से चिल्ला पडा :

"जहन्नुम के लिए भी आजादी।"

लोग हँसने लगे। लायड जार्ज की ओर सभी ताकने लगे। अगर वे माकूल जवाब न दे पाते तो उनके सारे भाषण का असर मिट्टी मे मिल जाता। पर वे मुस्कराते हुए उस खडे हुए व्यक्ति से बोले :

"जीहा, मै जरूर चाहता हू कि हरएक शख्स अपने-अपने देश की आजादी के लिए खडा हो।"

सब कहकहा मार कर हँस पड़े। बेचारा जहन्नुम ही का नागरिक बना दिया गया।

करीब ऐसी ही एक और घटना है। इस बार मजदूर-दल के नेता रेमसे मेकडोनेल्ड व्याख्यान दे रहे थे, अपने चुनाव के सिलसिले मे ही। जब उनका भाषण खत्म हो गया और वे कुरसी पर बैठ गए तो खूब तालिया बजी। मगर विरोधी-दल के एक सज्जन खडे होकर जोर से पूछने लगे :

'मिस्टर मेकडोनेल्ड, क्या आपको याद है कि आपके पिता गधा-गाडी हाकने वाले थे ?"

सब खिलखिलाकर हँस पडे। रग मे भग होने ही वाला था। लेकिन मेकडोनल्ड बडे चतुर थे। विनोद की कला जानते थे। उन्होने फौरन जवाब दिया :

"जीहा, बखूबी याद है। मेरे पिताजी की गाडी तो टूट गई, पर उसका गधा अब भी सामने खडा है।"

इस हाजिरजवाबी से उस बेचारे खडे हुए सज्जन के ऊपर घडो पानी पड़ गया। मुह की खाकर तुरन्त बैठ गया।

सच है, अगर वार्ताओ मे विनोद न हो तो उनमे पूरी ताकत है,

खास तौर से पश्चिमी मुल्को मे और इलेक्शनबाजी की दौडधूप में। हिन्दुस्तान मे, खुशनसीबी से कहिये या बदनसीबी से, अभी यह नौबत नही आई है। पर जैसे-जैसे प्रजा-राज बढेगा और इलेक्शनो का नशा जनता पर चढेगा इस तरह के मौके आये बिना न रहेगे। अभी तो हमारे देश मे ऐसे ही वक्ता काफी हैं, जिनमे विनोद का नाम-निशान भी नही। एक-एक, दो-दो-घटे तकरीर करते हैं, पर मजाक का, विनोद का कहीं झलक भी नहीं। बेचारे श्रोतागण जोर-जोर से जभाइया लेने लगते है, एक-दूसरे से बाते करने लगते है, पर मजाक का, विनोद का आनद उन्हे नही मिलता। बेचारे श्रोतागण ऊब जाते है, लेकिन वक्ता महाशय "बस एक बात और", "बस आखिरी दो शब्द" कहते ही जाते हैं और उनके व्याख्यान का मानो अत दिखलाई ही नही देता। ऐसी नीरस और गम्भीर तकरीरो से तो खुदा ही बचाये!

वकालत के पेशे मे भी मजाक का माद्दा बडा कारगर साबित होता है। किसी हिन्दुस्तानी नामी वकील की बात है, शायद मोतीलाल नेहरू की। वह किसी जज के इजलास मे बहस कर रहे थे। उन्होने कई मुद्दे ऐसे निकाले, जिन्हे जज महाशय भी पूरी तरह न समझ सके। जज और वकील मे कुछ कहा-सुनी हो गई।

"आप मुझे कानून नही सिखा सकते!" जज ने गुस्से मे आकर कहा।

"बजा फरमाते है, हजूर! मै आपको कानून नही सिखा सकता।" वकील ने मुस्कराते हुए कहा। "क्योकि आप इतने कुद जहन है," यह जोडने की तो कोई जरूरत ही न थी। इजलास मे हाजिर लोग मुस्करा पडे। खुल्लम-खुल्ला हँसने से तो जज की तौहीन हो जाती।

ऐसा ही एक और वाकया है। वकील किसी बडे मुकदमे की पैरवी कर रहा था। वह नये-नये मुद्दे जज के सामने पेश कर रहा था, लेकिन जज उस वकील की काबलियत से जलता था। वह उसका अपमान करना चाहता था। इसलिए वकील की बातो की ओर पूरा ध्यान नही दे रहा था। फिर भी वकील ने अपना काम जारी रक्खा। लेकिन जज साहब ने तो हद पार कर दी। वे अपने कुत्ते को गोद मे बिठा कर उससे फुस-फुस करने लगे और वकील की बाते सुनी-अनसुनी करने लगे।

यह तो वकील की खुली तौहीन थी। उसे बडा नागवार लगा। मगर गुस्सा करने से तो काम बिगड ही जाता। उसने विनोद का सहारा लिया। वकील रुक गया और जज की ओर शान्ति से देखने लगा।

"चालू रखिये अपनी बहस !" जज ने कहा।

"बहुत अच्छा, हुजूर। मै समझा कि आप सलाह-मशविरा कर रहे है।" वकील ने धीरे से जवाब दिया। इजलास की भीड हँसी न रोक सकी। जज साहब फौरन होश मे आ गये। कुत्ते को नीचे उतार कर वकील साहब की बहस ध्यान से सुननी ही पडी।

शिक्षको और प्रोफेसरो के लिए भी विनोद-कला बड़े काम की है। उसके बिना उन्हे काफी परेशानी उठानी पडती है। लड़के तरह-तरह से उनका मजाक उडाते है, तग करते है। लेकिन अगर वे भी होशियारी से काम ले तो विद्यार्थियो को अच्छे ढग से सम्हाल सकते हैं।

प्रयाग विश्वविद्यालय मे मेरे एक प्रोफेसर बडे विनोदी थे। जब उनकी क्लास मे लडके आपस मे बातचीत करने लगते तो वे कुछ सैकिंड के लिए अपना लेक्चर रोक देते और जो विद्यार्थी आपस मे बातें कर रहे होते उनसे मुस्करा कर पूछने लगते।

"आपकी बाते तो बडी दिलचस्प मालूम देती हैं। जरा जोर से कहिये ताकि हम सब सुन सकें।"

सारा क्लास हस पडता। फिर गपशप बिलकुल बन्द हो जाती। पर एक दिन एक दूसरे प्रोफेसर साहब ने इसी बातचीत करने पर हम पर पूरे चौबीस मिनिट तक बडा गम्भीर और गरमा-गरम लेक्चर झाड़ दिया था। उनकी डाट सुनते-सुनते मै तो बिल्कुल ऊब गया। अन्त मे तो प्रोफेसर साहब का लाल चेहरा देख-देख कर हँसी आने लगी।

आज के सामाजिक जीवन मे भी हँसी-मजाक कभी-कभी बड़े काम का साबित होता है। प्रसिद्ध नाटककार बर्नार्ड शॉ से एक बार एक स्त्री ने प्रणय-याचना की। उसे अपनी खूबसूरती पर बडा नाज था। वह कहने लगी:—

"मिस्टर शॉ, अगर हमारी शादी हो जाय तो हमारे बच्चे बड़े खुश-किस्मत होंगे !"

"कैसे ?" शॉ ने मुस्करा कर पूछा।

"उनमे आपकी बुद्धि होगी और मेरी सुन्दरता !" स्त्री ने झट से जवाब दिया।

"और उनमे कही मेरी सुन्दरता और आपकी अक्ल हुई तो ?"

बेचारी औरत शर्मिदा होकर चुप हो गई।

इसी तरह किसी जगह कुछ मित्र बैठे बाते कर रहे थे। स्त्री-पुरुष दोनो ही थे। बात-बात में एक स्त्री ने किसी पुरुष मे नाराज़ होकर कहा।

"अगर मै आपकी पत्नी होती तो आपको जहर दे देती।" पर वह शख्स मजाकिया था। मुस्करा कर बोला

"श्रीमतीजी, मै जहर जरूर स्वीकार कर लेता !" "क्योकि आप जैसी पत्नी के साथ जिन्दगी बिताना दुश्वार हो जाता।" यह कहने की जरूरत ही न थी।

पढे-लिखे ही क्या, कभी-कभी अशिक्षित नौकर-चाकर भी लाजवाब मजाक कर बैठते है। किसी बाबू साहब ने अपने नौकर पर गरम होकर कहा

"तू बडा गधा है, रे !"

"हजूर, बडे तो आप ही है। मै तो छोटा हू आपके सामने !" नौकर हाथ जोडकर गिडगिडा दिया।

बाबू साहब का पारा तो एकदम काफी चढ गया, पर नौकर के विनोद की खूबी ने उन्हे अपने काम मे फिर लग जाने के लिए मजबूर किया।

इस तरह के चुटकुले तो मेरी झोली मे काफी है। आपने भी ऐसे बहुत-से कहानी-किस्से पढे होगे। अकबर-बीरबल का मजाक तो मशहूर है ही। बीरबल के नाम पर न जाने कितनो ने अपना-अपना मज़ाक उडेल दिया है। मगर मजेदार चुटकुलो के गिनाने की मेरी मशा नही हे। मै तो आपके ध्यान मे सिर्फ यही बात लाना चाहता हू कि विनोद की कला भी दुनिया की एक बडी नियामत है। जिन्दगी के सभी पहलुओ मे वह बडी कारामद हो सकती है। अगर आप इस कला व हुनर को हासिल कर

सकें तो अवश्य कर लें। किन्तु मजाक ललित होना चाहिए, भद्दा और दूसरो के दिलो को दुखाने वाला नही। जायकेदार होना चाहिए जो आपके साथ दूसरो को भी हँसा कर प्रसन्न कर दे। आपके विनोद मे खुशी की फुलझडियां छोडने की सिफत होनी चाहिए, नही तो वह बदला लेना होगा, ईर्ष्या और नीचपन होगा, अहकार और क्रोध होगा—मजाक नहीं।

हा, एक बात और। दूसरो का मजाक करते-करते कभी-कभी खुद अपना ही मजाक करने की कला को न भूले !

: २६ :

एक दीवार की करुण कथा

कुछ वर्ष पहले मै गोरखपुर का आरोग्य-मदिर देखने गया था। मुझे यह तो पता था कि गोरखपुर के आसपास भगवान् बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी कई प्राचीन स्थान है, किन्तु मुझे यह जानकर खुशी हुई कि महात्मा कबीर की पुण्यभूमि भी गोरखपुर से करीब १५ मील दूर ही है। इस स्थान का नाम मगहर है, जो रेलवे का एक छोटा स्टेशन भी है। कबीर की समाधि स्टेशन से करीब आधे मील की दूरी पर है और वहा की सफेद इमारते ट्रेन मे आने-जाने वाले मुसाफिरो को साफ दीख पडती है। नजदीक ही मगहर गाव है, जहा बुनाई का काम पुराने जमाने से चला आ रहा है।

कबीर के व्यक्तित्व के लिए मेरे मन मे छुटपन से आदर व प्रेम रहा है। उनकी कविता सरल किन्तु अत्यन्त मार्मिक है। वे एक पहुचे हुए सत तो थे ही किन्तु इस देश मे हिन्दू व मुसलमानो मे पारस्परिक प्रेम स्थापित करने के लिए उन्होने अपनी शक्ति लगाई और दोनो को ही कठमुल्लापन से बचाने का यत्न किया .

'अल्ला गैब सकल घट भीतर
हिरदे लेहू बिचारी।
हिन्दू-तुरक महँ ऐकै,
कहे "कबीर" पुकारी।'

इसलिए मगहर मे उनकी समाधि देखने की सहज इच्छा हो उठी और मै एक दिन वहा जा पहुचा। कहते है, जब कबीर का देहान्त हुआ तो हिन्दू और मुसलमान उनके शरीर के अन्तिम सस्कार के लिए आपस मे झगडने लगे। मुसलमान उनके शरीर को दफनाना चाहते थे और हिन्दू उसे जलाना। अन्त मे जब चादर उठाकर देखा गया तो सिर्फ दो फूल

रह गये थे। एक फूल हिन्दुओ ने ले लिया, दूसरा मुसलमानो ने, और दोनो ने अपने-अपने धर्मानुसार समाधिया बना ली। आज भी ये दोनों समाधिया—मदिर और मसजिद—बनी हुई है और दोनों मे भजन-कीर्त्तन होते रहते हैं।

पहले मै हिन्दुओं के मदिर मे गया। वहा दो कबीरपथी आपस में कुछ चर्चा कर रहे थे। मालुम हुआ कि शाम को रोज थोड़े समय के लिए कबीरवाणी गायी जाती हैं। वर्ष में एक बार अगहन की पूरनमासी को बनारस के महत श्री रामविलासदासजी मगहर पधारते हैं और उस दिन बडा उत्सव होता है, जिसे भंडारा कहते है। थोडी देर मंदिर मे बैठकर फिर मैंने मुसलमानो की मस्जिद की ओर जाना चाहा।

"इधर से तो रास्ता नही है, साहब !" उत्तर मिला।

"क्यो ?" मैंने आश्चर्य से पूछा।

"बीच मे दीवार जो है।"

"यह दीवार कब से है ?"

"यह न पूछिये, बाबू ! यह तो बहुत अरसे से है।"

"क्या दीवार मे एक छोटा दरवाजा भी नही है, इधर-उधर जाने के लिए ?" मैंने पूछा।

"नही, दरवाजा रखने से क्या फायदा ? हमारा उधर जाना आना ही नही है !"

यह सुन कर मुझे बडा बुरा लगा। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही कबीर पथी हैं। कबीर ने दोनो को एक करने का अथक प्रयत्न किया, फिर भी दोनो एक न हो सके। दोनों के बीच मे अंधी दीवार खडी है !

मदिर के बाहर जाकर मैं फिर मस्जिद की ओर गया। अन्दर जाकर वहा के एक मुसलमान कबीर-पथी से बातचीत की। मालूम हुआ कि वहा भी वर्ष मे एक बार बडा भडारा होता है।

"भडारे के समय आप सब—हिन्दू-मुसलमान—एक साथ खाते-पीते हैं न ?" मैंने सहज पूछा।

"नही साहब, हम लोग आटा, दाल, चावल, शक्कर मदिर में भेज देते हैं और फिर वहा भोजन पकता है।"

"और क्या इसी प्रकार हिन्दू भाई आप लोगो के पास भोजन-सामग्री भेज देते है ?"

"नही, वहा से तो भोजन बना-बनाया आता है !"

"ऐसा क्यो ? हिन्दू भाई आपके यहा का बना भोजन क्यो नही खाते ? आप दोनो ही कबीर-पथी है न ?

"जीहा, हम सब कबीर-पथी है। कोई भी मास-मछली नही खाता, पर हिन्दू लोग हमारे हाथ का बना नही खाते ! हम तो उनका बनाया खा लेते है।"

आखिर कबीर-पथियो ने भी इस छुआछूत को कायम रक्खा ! यह जानकर बहुत रज हुआ। हिन्दू और मुसलमानो के बीच की छुआछूत की खाई ने ही अन्त मे भारत के दो टुकडे कर डाले, बीच मे दीवार खडी हो गई। भाई भाई मे विद्वेष की ज्वाला भडक उठी !

'यह दीवार क्या शुरू से ही थी ?" मैने जानना चाहा।

"नही, पहले दीवार नही थी। लेकिन बार-बार हिन्दू-मुसलमानो मे झगडे होते रहे। फिर करीब अस्सी साल पहले एक अग्रेज अफसर ने दोनो के बीच दीवार खडी कर दी।"

एक अग्रेज अफसर ने मगहर के हिन्दू-मुसलमान कबीर-पथियो के बीच दीवार खडी कराई ! और अस्सी वर्ष बाद एक अग्रेज गवर्नर-जनरल ने देश के हिन्दू व मुसलमानो के बीच राजनैतिक दीवार खडी कर दी ! देश के दो टुकडे हो गए। बीच मे एक दरवाजा भी नही दीखता है ! कितना करुणाजनक इतिहास है यह ! पाकिस्तान की नीव के दर्शन मुझे अस्सी वर्ष पूर्व बनी मगहर की इस दीवार मे हुए। कितने भयानक दर्शन थे वे !

अहिंसा की एक और विजय

राष्ट्रपिता महात्मा गाधी ने जिस प्रकार भारत मे अहिंसा के मार्ग द्वारा राजनैतिक आजादी स्थापित की वह ससार के इतिहास मे एक अमर घटना रहेगी। यू तो हिन्दुस्तान मे व अन्य देशो मे भी सदियो से अहिंसा के प्रयोग होते आए है, किन्तु उनके क्षेत्र ज्यादातर व्यक्तिगत ही थे। गांधीजी ने अहिंसा के शस्त्र का प्रयोग सार्वजनिक व सामूहिक ढग से किया और उसके फलस्वरूप हमारा देश गुलामी की जंजीरें तोड कर स्वतन्त्र हो सका। गाधीजी के बाद हमारे ही देश मे आचार्य विनोबाजी ने भूदान व ग्रामदान आन्दोलनो की मारफत आर्थिक क्षेत्र मे अहिंसा का एक बहुत महत्वपूर्ण प्रयोग किया और उसमे काफी हद तक सफलता प्राप्त की। किन्तु कुछ वर्ष पहले भिड-मुरेना क्षेत्र मे जिस प्रकार वहा के डाकुओ ने आचार्य विनोबाजी को अपना समर्पण किया वह सचमुच अहिंसा की एक नई विजय समझी जायगी। यह स्वाभाविक ही था कि अहिंसा के इस और एक नये प्रयोग की ओर देश व दुनिया का ध्यान आकर्षित हो। शासन-चक्र से तग आकर समय-समय पर काफी डाकू पुलिस के सामने भी समर्पण करते रहते है। किन्तु आचार्य विनोबाजी की अपील के फलस्वरूप जिस प्रकार भिड-मुरेना क्षेत्र के डाकुओ ने अपना समर्पण किया वह समाज-शास्त्र की दृष्टि से एक विशेष घटना थी। यह कहने की आवश्यकता नही कि पूज्य विनोबाजी ने डाकुओ को अपनी या सरकार की ओर से किसी भी प्रकार की सहूलियत दिलवाने का कोई आश्वासन नही दिया था। उन्होने तो यहा तक कहा था कि मैं मध्यप्रदेश शासन को किसी भी प्रकार की अड़चन मे नही डालना चाहता, और सरकार को यह पूरा अधिकार होगा कि डाकुओ के समर्पण पर वह आवश्यक कानूनी

कारंवाही करे। फिर भी डाकुओ ने काफी सख्या मे आचार्य विनोबा की सलाह मान कर समर्पण किया, यह अहिसा की एक महान सफलता समझनी चाहिए।

कुछ वर्ष पहले तैलगाना क्षेत्र मे भी इसी प्रकार का एक चमत्कार हुआ था। उस समय तैलगाना मे एक तरफ से साम्यवादियो के व दूसरी तरफ से पुलिस व मिलिटरी के आतक के कारण वहा की जनता त्रस्त हो गई थी और सारा वातावरण बिलकुल अशान्त था। आचार्य विनोबा ने इस क्षेत्र मे पुलिस या मिलिटरी की सहायता के बिना अपनी शान्ति-यात्रा आरम्भ की और उसी यात्रा के दौरान मे भूदान-गगा वह निकली। भूदान-आन्दोलन की वजह से इस क्षेत्र मे कुछ ही हफ्तो बाद शान्ति स्थापित हो सकी थी और जो कार्य पुलिस या मिलिटरी न कर सकी वह इस प्रकार के अहिंसक आन्दोलन द्वारा सम्पन्न हुआ। साम्यवादी चाहते थे कि बडे जमीदारो से जबरदस्ती जमीन छीन कर गरीब भूमिहीनो को बाटी जाय। उनका तरीका था हिसा व द्वेप का। किन्तु आचार्य विनोबा ने प्रेम तथा अहिसा द्वारा हजारो एकड ज़मीन दान के रूप मे प्राप्त की और उसका भूमिहीनो मे वितरण किया। यह कार्य अधिक तेजी से हुआ और उसका प्रभाव भी स्थायी रहा।

हमारे देश मे आचार्य विनोबा द्वारा भूदान व ग्रामोद्योग का जो प्रयोग किया गया उसकी चर्चा विदेशो मे भी काफी हुई है, किन्तु डाकुओ की समस्या का हल जिस नये ढग से पूज्य विनोबाजी ने किया है उससे दुनिया के काफी देशो मे गहरा प्रभाव पडा है और जनता मे विश्वास हुआ है कि अहिसा के तरीके से दुनिया के बडे-से बडे मसले सफलतापूर्वक हल किए जा सकते है।

डाकू-समर्पण आन्दोलन के विरुद्ध मध्यप्रदेश के पुलिस अधिकारियो की ओर से कुछ आवाज भी उठी। इस प्रकार की विशेप परिस्थिति मे पुलिस के मन मे कुछ परेशानी होना स्वाभाविक भी था। फिर भी पुलिस ने अपनी ओर से इस कार्य को सफल बनाने मे आवश्यक सहयोग दिया यह हमे स्वीकार करना चाहिए। इसलिए यदि उनके मन मे किसी प्रकार की आशका या परेशानी खडी हुई तो उसे दूर करना

हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। यदि डाकुओं की मनोवृत्ति मे अहिंसा की प्रक्रिया द्वारा परिवर्तन लाया जा सकता है तो शासन व पुलिस की भी मनोवृत्ति मे अहिंसक ढग से परिवर्तन लाने की कोशिश करना मुमकिन होना चाहिए।

हम आशा करते हैं कि आचार्य विनोबा द्वारा डाकुओ के बीच मे अहिंसक मार्ग मे जो प्रयोग किया गया है वह आगे बढता रहेगा और भिड-मुरेना क्षेत्र मे इस कार्य के सचालन के लिए जिस समिति का गठन किया गया है वह अपने काम को श्रद्धापूर्वक और लगन मे करती रहेगी। हमें आज चाहे इस काम का उतना महत्व न लगे किन्तु भविष्य मे न सिर्फ देश के बल्कि दुनिया के इतिहास मे इस नए तरीके की बडी अहमियत रहेगी।

· २८ ·

गोवर्द्धन पर्वत की खोज

उत्तरप्रदेश शासन के वन-विभाग की ओर से आयोजित एक सम्मेलन मे भाग लेने के लिए कुछ दिनो पहले मै आगरा गया था। आगरा के पास जमुना नदी के किनारे भूमि-सरक्षण का जो कार्य वन-विभाग द्वारा किया गया है, उसका निरीक्षण करने का अवसर भी मुझे मिला। यह भी सुझाया गया कि मैं दिल्ली वापस आते समय मथुरा के पास गोवर्द्धन पर्वत पर जो वन लगाया गया है उसे भी देखू। लगभग ३३ वर्ष पहले जब मैं आगरा कालेज का विद्यार्थी था तब एक बार गोवर्द्धन पर्वत देखने गया था और उसकी धुधली-सी स्मृति मन पर छाई हुई थी। इसलिए इस प्रस्ताव को मैने सहर्ष स्वीकार किया और दूसरे दिन सुबह हम मथुरा से गोवर्द्धन पर्वत की ओर रवाना हुए। वन-विभाग के अधिकारी भी मेरे साथ थे। उन्होने बडी दिलचस्पी के साथ मुझे बताया कि कुछ वर्ष पहले गोवर्द्धन पर्वत बिल्कुल रूखा-सूखा था और उसपर कही भी हरियाली न थी। अब इस पहाड पर कई प्रकार के पेड लगाए गए है, जिनके कारण यह स्थान काफी हरा-भरा हो गया है। बहुत वर्षो बाद गोवर्द्धन पर्वत के पुन दर्शन करके मुझे आनन्द और सतोष होना स्वाभाविक था।

वन-अधिकारी से पूछने पर पता लगा कि गोवर्द्धन पर्वत लगभग ७ मील लम्बा है और ३५० फुट चौडा।

"इस पर्वत का इतिहास क्या है ?" मैने वन-विभाग के अधिकारियो से पूछा।

"कुछ लोगो का ख्याल है कि यह पर्वत अरावली श्रेणी का एक हिस्सा है," उन्होने उत्तर दिया।

"क्या इसके आसपास और भी कई पहाड हैं ?"

"जी नही, उसके नजदीक और कोई पहाड नही है।"

फिर एक अधिकारी ने धीरे से कहा, "कुछ लोगो का यह भी ख्याल है कि यह गोवर्द्धन पर्वत किसी जमाने मे विशेष रूप से किसी राजा द्वारा बनवाया गया था।"

"किसलिए ?" मैंने पूछा।

उन्होने उत्तर दिया, "मथुरा की ओर से इस तरफ जमीन काफी ढालू है। जिस वर्ष अधिक बारिश हो जाती है तब जमीन ढालू होने की वजह से पानी बहकर इस ओर आ जाता है। इस पहाड के दूसरी ओर जो गाव है वे तो इस पानी के बहाव से या बाढ से बच जाते है, लेकिन आसपास के दूसरे गावो में बहुत नुकसान हो जाता है और फसलें नष्ट हो जाती है। आमतौर पर बाढ की वजह से चारे के लिए भी कोई घास नही होती। किन्तु इस पर्वत के कारण अब गायो के चरने की कुछ सुविधा होने लगी है।"

बातचीत करते-करते यह भी पता लगा कि इस पर्वत की रचना में अधिकतर पत्थर के टुकडे ही है और बीच-बीच मे मिट्टी भरी हुई है। स्थानीय अधिकारी से मैंने जानना चाहा कि इस पर्वत के आसपास कुछ कुए भी है या नही ? मालूम हुआ कि पर्वत के नजदीक कोई कुआं नही है। आठ-दस फुट नीचे खोदने पर काफी पत्थर निकलते है। कुछ वर्ष पहले एक ट्यूब-वेल खोदने की कोशिश की गई थी, लेकिन वह भी विफल रही। वहा से कुछ दूर पर एक-दो कुए है, जहा से लोग पीने आदि के लिए पानी लेते है।

इस तरह वहा लगभग आध घंटा रुकने के बाद मैं मथुरा की ओर वापस चल पडा। रास्ते मे मोटर से मैंने फिर गोवर्द्धन पर्वत की ओर ध्यान से देखा और काफी देर तक सोचता रहा कि कृष्ण भगवान् ने इस पर्वत को उगली पर उठाया था, इसका क्या अर्थ हो सकता है ? सोचते-सोचते अचानक ध्यान मे आया कि हो न हो, यह कृष्ण द्वारा आयोजित श्रमदान का एक प्राचीन व मूर्तिमान दृष्टान्त है। हजारो वर्ष पहले इस क्षेत्र की जमीन ढालू होने की वजह से बार-बार बाढ आती रही होगी और प्रतिवर्ष कई गावो में काफी बरबादी होती रही होगी।

कृष्ण भगवान् तो एक कुशल कर्मयोगी थे। इसलिए उन्होने इस समस्या का एक व्यवहारिक हल ढूढ निकाला होगा और आसपास के गावो की जनता को आह्वान दिया होगा कि श्रमदान द्वारा इस स्थान पर एक लम्बा वाध या पहाड खडा किया जाय जो बाढ को रोकने मे समर्थ हो। उनकी उगली के इशारे पर ही सैकडो-हजारो ग्रामवासियो ने इस योजना को पसन्द करके उसे कार्यान्वित करने मे हाथ बटाया होगा। प्रत्येक कुटुम्ब ने उस क्षेत्र से कुछ पत्थर खोद-खोदकर इस पर्वत के निर्माण मे सहायता दी होगी। इसलिए प्राचीन कथा मशहूर है कि कृष्ण भगवान् ने अपनी उगली से गोवर्द्धन पर्वत उठाया और सभी बाल-गोपालो ने उसे उठाने मे अपने-अपने हाथो का टेका दिया। इन्द्र के कोप का यही अर्थ हो सकता है कि अधिक वर्षा के कारण उस ओर बाढ आ जाती थी और उन ग्रामो को बरबाद करती थी। गोवर्द्धन पर्वत को उठाने का यही अर्थ ध्यान मे आया कि यह पहाड श्रमदान द्वारा जमीन पर उठाया गया, उसी तरह जैसे कारीगरो द्वारा एक दीवार उठाई जाती है।

यह भी ध्यान मे आया कि इस पर्वत को 'गोवर्द्धन' का नाम इसलिए दिया गया होगा कि उससे बाढ की रोकथाम के अलावा उसपर गायो के चरने का अच्छा प्रवन्ध होगया होगा और इस प्रकार गोवश की वृद्धि हुई होगी। मेरे मन मे यह स्पष्ट होगया कि कृष्ण ने इस पर्वत को एक बहुउद्देशीय 'प्राजेक्ट' के रूप मे ही बनाया होगा।

आजकल तो हम श्रमदान की काफी चर्चा करते है और समझते है कि यह हमारी कोई नई ईजाद है। बिहार मे भारत सेवक समाज द्वारा कोसी बाध का निर्माण हुआ। दिल्ली के पास भी यमुना नदी के किनारे इसी प्रकार का एक बाध बाधा गया है। देशभर मे श्रमदान द्वारा बहुत से छोटे-छोटे प्राजेक्ट तैयार किये गए है। लेकिन हजारो वर्ष पहले कृष्ण ने श्रमदान द्वारा इस गोवर्द्धन पर्वत का निर्माण कराके कितनी सूझ-बूझ व दूरदर्शिता का कार्य किया, यह सोचकर मन में बहुत आनन्द एव आश्चर्य हुआ। उनकी उगली के इशारे पर बाल-गोपालो की सहायता से यह पर्वत इन्द्र के कोप का सामना करने के लिए किस

प्रकार उठाया गया, इसके रहस्य की झलक भी अचानक मिल गई। भगवान् कृष्ण एक महान् राजनीतिज्ञ तथा पराक्रमी योद्धा तो थे ही, किन्तु वे एक कुशल आर्थिक सयोजक भी थे यह समझ मे आने पर मन मे बड़ा कौतूहल हुआ।

इतनी परेशानी क्यों ?

कल ही की तो बात है। दिन-भर मैं बेहद परेशान रहा। परसो रात को बडी मेहनत से एक लेख लिखा था। कागज की महगाई के लिहाज से मैने कुछ पुरानी चिट्ठियो की पीठ को ही इस्तेमाल कर लिया था। लेख एक मासिक पत्र के लिए लिखा था क्योकि उसके लिए कई तकाजे आ चुके थे। कल सुबह जब मैं उस लेख को भेजने के लिए लिफाफे पर पता लिख चुका तो वह डेस्क पर दिखाई नही दिया। इधर-उधर सारे आफिस मे ढूढने लगा। शायद किसी किताब या फाइल के नीचे दब गया हो, इसलिए सारा सामान ही उलट-पलट कर डाला। ख्याल तो पक्का ही था कि लेख उसी डेस्क के एक किनारे पर रख दिया था, पर मुमकिन है और कही रख दिया हो। सब आलमारियो को भी खोल-खोलकर देख डाला। मेज की दराज भी छान डाली, पर उसका कही भी पता न चला। फिर अदर जाकर घरवालो से पूछा कि किसी ने उसे पढने को तो नही लिया। लेकिन रात को ही तो लिखा था, किसी को उसके बारे मे मालूम ही न था। बडी परेशानी हुई। गुस्सा भी आया। पर किस पर गुस्सा करता ? आखिर जब भोजन के लिए रसोई-घर मे गया और नौकर थाली परोसने लगा तो सहसा चूल्हे के नजदीक पडे अधजले कागज पर नजर पडी। अरे, यह तो एक वही चिट्ठी का पन्ना था जिसके पीछे मैने कल रात अपना लेख लिखा था ! बस मेरे क्रोध का ठिकाना न रहा। नौकर पर बरस पडा। वह बेचारा घबरा गया। आखो मे आसू लाकर बोला, "बाबूजी, सुबह आग सुलगाने के लिए कुछ रद्दी कागज ही समझकर मैं उन पन्नो को उठा लाया था। रोज आप पुरानी चिट्ठिया रद्दी की टोकरी मे डाल देते है। मैं समझा कल आप भूल गये होगे और यह रद्दी आपके डेस्क पर ही रह गई होगी।

कसूर माफ हो। अब आपके आफिस से कभी कोई कागज न उठाऊंगा।"

पर मैं उसे उल्टी-सीधी सुनाता ही गया। उसकी कुछ तनख्वाह काट लेने की धमकी दे दी। क्रोध के मारे भोजन भी ठीक तौर से न कर सका। आधे पेट ही उठ गया। दिन भर मन में बेचैनी और गुस्सा रहा। लेकिन जब रात को पलग पर सोने के लिए लेटा तो मन मे बड़ा पछतावा महसूस हुआ। बेचारे नौकर की ऐसी कोई बड़ी भारी गलती नही थी और उसने तुरन्त माफी भी माग ली। फिर भी मैं बेकार इतनी देर तक बकता ही रहा। दिन भर दूसरे लोगो पर भी अपने दिल का गुबार निकालता रहा। यह बिलकुल गैर-मुनासिब हुआ। मुझे अपने आपको काबू में रखना था। इतनी परेशानी का कोई कारण नही था।

न्यूटन के जीवन की एक घटना जानने लायक है। उसने पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का शोध किया और दुनिया को एक नई दृष्टि दी थी। उसके घर में एक कमरा था, जिसमे उसके प्रयोग चलते रहते थे। बरसो से वह एक यत्र के कुछ आकड़ो का रेकार्ड रख रहा था और एक ग्राफ बना रहा था। उस ग्राफ का कागज कई साल तक हिफाजत से रखा गया था, इसलिए वह काफी पुराना-सा दीखता था और उस पर कई धब्बे भी पड गए थे। वह ग्राफ-कागज उस यत्र के पास ही एक पिन से लगा रहता था। उसका पुराना नौकर चला गया था। उसकी जगह एक नया नौकर रखना पडा। वह बेचारा अपने मालिक की सेवा बड़ी लगन से करता। घर की खूब सफाई रखता। उसने एक पुराने कागज पर धब्बे लगे देखे। सोचा, मालिक को नया कागज निकाल कर इस्तेमाल करने की शायद फुरसत ही नही मिलती। उसने उस कागज को हटाकर एक दूसरा नया कागज पिन से लगा दिया और पुराने कागज को फाड़कर रद्दी की टोकरी मे डाल दिया।

जब न्यूटन ने उस यत्र के पास एक नया कागज देखा तो उसके दिल को भारी सदमा पहुंचा।

"यहा का कागज कहा गया ?" न्यूटन ने नौकर से पूछा।

"हुजूर, वह पुराना हो गया था न ? इसलिए मैंने उसे बदल दिया।"

"वह पुराना कागज कहा रख दिया ?"

"फाड कर उस रद्दी की टोकरी में डाल दिया, साहब," नौकर ने धीरे से डरते हुए जवाब दिया।

न्यूटन के पैरो तले जमीन मानो खिसकने लगी। वह हताश हो गया और निराश होकर अपने माथे का पसीना रूमाल से पोछते हुए बैठ गया। उसने सामने खडे नौकर से केवल इतना ही कहा, "भाई, मेरा भारी नुकसान हो गया। बरसो की मेहनत खाक मे मिल गई। पर खैर, खुदा की मर्जी!"

और फिर उसी दिन से उसने अपने आकडो का दूसरा ग्राफ बनाना शुरू कर दिया।

मशहूर लेखक कारलाइल का भी कुछ इसी तरह का एक वाकया है। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति पर उसका ग्रथ मशहूर है। जब वह उस बडी किताब को लिख चुका तो उसकी पाडुलिपि एक मित्र के पास देखने के लिए भेजी। किताब की दूसरी प्रतिलिपि उसके पास नही थी और उसका मित्र काफी जिम्मेवार शख्स था, इसलिए उसे चिता करने का कोई सबब भी नही था।

कई दिन बाद कारलाइल अपने दोस्त के घर गया। मित्र ने कहा, "अरे, मै आपकी किताब के बारे मे बिलकुल भूल ही गया। अभी मै उसे नही पढ सका हू।

"खैर, कोई बात नही।" कारलाइल ने जरा निराश होकर कहा।

दोस्त ने अपने नौकर से हस्तलिपि लाने को कहा। बेचारे ने कमरे मे इधर-उधर काफी देर तक ढूढी, पर वह हाथ न लगी।

"हुजूर, वह आपने कहा रख दी ? वहा नही दीखती।"

"क्या ? अरे, उसी बीच की मेज पर तो रक्खी थी।"

"मेज पर तो नही है, साहब!"

"अच्छा, मेम साहब से पूछो। उन्होने शायद पढने को ली हो।"

मेम साहब से भी पूछा गया, पर उन्हे भी कुछ पता न था।

काफी देर तक पूछताछ करने पर मालूम हुआ कि एक नौकरानी ने उसे मेज़ के नीचे पड़ा देखा था। वह समझी कि वह रद्दी कागजो

फर्स्ट-सर्टेर्न होगा, क्योकि नीचे तीन दिन से पड़ा था। इसलिए उसने मेरे नौकर की ही भाति वेहतर समझा कि उस गट्ठे का अच्छे-से-अच्छा उपयोग रसोईघर के चून्हे मे किया जाय।

यह किस्सा सुनकर कारलाइल के दुख का क्या ठिकाना रहा होगा! उसका न जाने कितने सालो का परिश्रम आग पर न्योछावर हो गया। लेकिन उसने कुछ न कहा। पिछले ज्ञान की बिना पर उस ग्रथ को फिर लिखना प्रारम्भ कर दिया।

और मै एक छोटे-से लेख के भस्म हो जाने से ही इतना लाल-पीला हो गया। अपना समतोल खो बैठा।

लेकिन मै यह कह कर सन्तोष नही कर लेना चाहता कि "ईश्वर की मर्जी ऐसी ही रही होगी। उसकी लीला अपार और अगम्य है। इस लिए परेशान क्यो होना ? जो ईश्वर करता है सो अच्छा ही करता है।" इस तरह के हवाई ख्यालो से मन को समझाना और दिलासा देना मै कायरता मानता हू। हरेक मौके पर हरेक वात मे वेचारे परमेश्वर को खीच कर अपनी आत्मरक्षा करने की कोशिश करना डरपोकपन नही तो क्या है ? और ईश्वर को नाहक सस्ता वनाने की बदतमीजी करना है। भगवान को इतनी फुरसत नही कि आपके और हमारे लेखो के जलने या प्रकाशित होने की वह देख-रेख करे। यह तो इसान की गफलतो और वेवकूफियो को खुदा के मत्थे मढना है। हमारे जीवन की इस प्रकार की घटनाएं तो मौको की वाते है, जिन्हे अंग्रेजी मे 'चांस' कहते है। मै नही जानता कि इन मौको के पीछे ईश्वर की कोई खास इच्छा छिपी रहती है। अगर इस तरह के वाकये हमारी भूल और लापरवाही के कारण हुए हो तो यह हमारा काम है—न कि खुदा का—कि आगे के लिए चौकन्ने हो जाय और अपनी कमजोरियो को ढाकने के लिए व्यर्थ ईश्वर का नाम न लें।

और सच पूछिये तो परेशान होना और न होना अपने मन का खेल है। हमारा आनन्द बाहर की घटनाओ पर इतना निर्भर नहीं रहता, जितना खुद अपने मिजाज पर है। हमारा मन एक सम्पूर्ण साम्राज्य है, उसमे चाहे तो हम हमेशा खुश रह सकते है, नही तो सदा आसू बहाते

रह सकते है । स्वर्ग और नरक, जन्नत और दोजख हमारे अन्दर ही है, ऊपर आसमान पर नही ।

भगवान ने गीता मे भी तो अर्जुन से कहा है:

"आत्मैव ह्यात्मनो बधुरात्मैव रिपुरात्मान् ।"

अगर हम पर कोई मुसीबत आ पडी है तो रोने-धोने से वह हल नही हो सकती, उल्टी परेशानी बढेगी ही । मुसीबत का हम स्वागत भी कर सकते है, यह सोच कर कि वह हमारी आत्मा को पक्का और मजबूत बना सकेगी । सोने की तरह हम तकलीफो से तप कर ज्यादा तेजस्वी और पवित्र हो सकते है। सूरदास अपने अधेपन से गहरी प्रेरणा लेकर अमर कवि बन गये और भक्ति के सागर मे लीन होकर वे आनन्द-विभोर हो गये । तुलसी ने अपनी स्त्री के अपमान की आच से तप कर अपना चित्त राम के चरणो पर न्योछावर कर दिया और अपनी नई दुनिया मे सबकुछ पा लिया । आज भी उनकी रामायण करोडो दुखियो का सहारा बन कर उन्हे सदा दिलासा देती रहती है ।

गरीबी से तग आकर हम दिनरात हाय-तौबा मचा सकते हैं और अपना तथा घरवालो का जीवन एक जीता-जागता नरक बना सकते है। पर अगर हमारा दिमाग हमारे काबू मे है, हम कडी-से-कडी मुसीबत मे भी हसना सीखे है तो हम कबीर के साथ बडे आनन्द से गा सकते है:

"मन लागो मेरो यार फकीरी मे ।
जो सुख पावो नाम भजन मे,
सो सुख नहीं अमीरी मे !"

जिसके मन मे सब्र है, सतोष है, आनन्द है, उसे दुनिया की कोई चीज रुला नही सकती ।

"कहे कबीर सुनो भाई साधो,
साहिब मिलै सबूरी मे ।"

कल रात मेरे एक मित्र के घर चोरी हो गई । जब मैने सुना तो उनके घर दौडा गया । सोचा था बेचारे बहुत अफसोस कर रहे होगे । उनसे काफी हमदर्दी जाहिर करनी होगी । उनकी काफी नकदी रकम भी चली गई थी । पर जब उनके घर पहुचा तो वे मुस्करा कर बोले,

इतनी परेशानी क्यो ?

"आइये, क्या हाल-चाल है?"

"मेरा हाल क्या पूछते हैं। आपकी चोरी का हाल सुनकर बड़ा बुरा लगा।" मैंने जवाब दिया।

"अरे, अफसोस की क्या बात है! दुनिया का यह लेन-देन तो चलता ही रहता है।" मै चुप रहा। वे थोड़ी देर बाद फिर हसकर कहने लगे

"जिनका धन मैंने इतनने दिनो से लूटा था वे हा उसे ले गये। अच्छा ही है। अब तो मै यह व्यापार छोडकर किसी समाज-सेवा के काम मे लग जाना चाहता हू।"

मेरे मित्र एक सफल व्यापारी थे। सेवा मे अपनी जिन्दगी खपा देने का उनका ख्याल मुझे पसन्द आया।

"यह तो बड़ी खुशी की बात है," मैंने कहा।

"जी हा, इसीलिए मै आज का दिन अपने जीवन में बडी खुशी का दिन मानता हू। ठीक है न ?"

इस तरह का दिमाग कम लोगो का होता है। एक दूसरे सज्जन तो, जिनके यहा कुछ दिन पहले चोरी हो गई थी, कई महीने तक बहुत ही परेशान रहे थे, और उन जैसे व्यक्ति ही इस दुनिया मे अधिक है।

गुलाब के खूबसूरत फूलो को देखकर एक शख्स अफसोस से कहने लगा:

'ऐ खुदा, इन खुशनुमा गुलो में ये तीखे काटे!"

उन्ही फूलो पर नजर डाल उसका दोस्त खुश होकर बोला,

"खुदा की कुदरत निराली है। इन भद्दे कांटो पर भी इतने सुन्दर फूल! भरी शहद की आधी शीशी देखकर एक मित्र परेशान हो कर बोले,

"अरे, आधी शीशी खाली ही है!"

दूसरे दोस्त खुश होकर कहने लगे—

"वाह! आधी शीशी तो भर गई!"

बस यह सारा खेल अपने-अपने मिजाज का है। हमारे नुक्तेनजर पर सारा जग दिन-रात घूमता है। हमारा दृष्टिकोण ही संसार को नरक और स्वर्ग बनाता है। अगर हम खुशमिजाज हैं तो हमारी खुशी को कोई भी मुसीबत छीन नही सकती। मगर हम मायूस तबीयत के है तो दुनिया की बड़ी-से-बडी खुशी भी हमारी आंखो से आंसू ही टपका देगी!